भूमिका

हिंदी-साहित्य का जन्म और विकास संघर्ष के बीच हुआ है। संघर्ष के प्रत्येक युग में हिंदी-साहित्य अधिकाधिक निखरता गया, प्रतिभाशाली साहित्यकारों की उदार भावना और विवेक-बुद्धि ने इसे कभी एकांगी न होने दिया। युगधर्म, जाति-स्वभाव और पूर्वजों की दी हुई सांस्कृतिक थाती को समझकर ये कर्णधार भँवर और तूफान से बचाते हुए साहित्य की नौका को सफलतापूर्वक खेते रहे हैं और साहित्यिक यात्रा को मनोरम, लोकप्रिय तथा समृद्धिशाली बनाते रहे हैं।

इन्हीं सफल साहित्यिक कर्णधारों के समान आज के लेखक का भी गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व है। वर्तमान साहित्य की आधुनिकता भी पाश्चात्य और पूर्व के सांस्कृतिक संघर्ष से संबद्ध है, और इस महायुद्ध ने सारे विश्व के सामने नैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याएँ उपस्थित कर दी हैं जिनकी अभिव्यक्ति और जिनका समाधान प्रत्येक देश के साहित्य को करना पड़ रहा है। किन्तु भारत के लम्बे इतिहास में यह संघर्ष पहली बार नहीं उपस्थित हुआ है। इसलिये यदि आज के लेखक चाहें तो पूर्ववर्ती साहित्यकारों के उदाहरणों से कुछ ज्ञान-लाभ कर आज की समस्याओं का युगधर्म के अनुकूल अपने ढंग से समाधान कर सकते हैं। भारतेंदु-युग और द्विवेदी-युग के कवियों ने भी युग की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं का अपने ढंग से संचालन कर साहित्य की श्रीवृद्धि की थी।

प्रस्तुत पुस्तक में आधुनिक हिंदी-साहित्य के मूल में वर्तमान उसे प्रभावित और संचालित करनेवाली प्रवृत्तियों के अध्ययन का प्रयास

आधुनिक काव्यधारा

का

सांस्कृतिक स्रोत

आधुनिक काव्यधारा
का
सांस्कृतिक स्रोत
पूर्वाभास
(रीतिकाल)

सन् १८०० ईसवी तक मुगल, राजपूत और मराठा शक्तियों का पर्याप्त ह्रास हो चुका था। इससे अठारहवीं शती की पतनोन्मुख भारतीय सभ्यता का नाश अवश्यम्भावी और अनिवार्य था। सन् १७५७ के प्लासी के युद्ध से ब्रिटिश जाति का प्रभुत्व भारत में व्याप्त हो चला था और १८०० तक भारत का प्रधान भाग अँगरेजों के अधीन हो गया था और अधिकांश भारतीय नरेशों को लार्ड वेलजली की सहकारी संधि (Subsidiary Alliance) मानने को विवश होना पड़ा।

इस प्रकार अकबर की आदर्शवादिता से प्रसूत और हिंदू तथा मुसलमान दोनों के सहयोग से पनपता हुआ मुगल-साम्राज्य और भारतीय संस्कृति विनाश की ओर जा रहे थे। शाहजहाँ के समय में यह संस्कृति पूर्ण परिपक्वता को प्राप्त हुई और औरंगजेब की कट्टरता ने इस साम्राज्य की जड़ खोदनी आरंभ की। औरंगजेब की असहिष्णुता ने हिन्दुओं को विरोधी बना दिया तथा उसकी सेना दूर तक फैली साम्राज्य-सीमा में शांति-स्थापन में असमर्थ रही। इस अशांति से साम्राज्य की आर्थिक नींव हिल गई। औरंगजेब की मृत्यु से दृढ़ शासन का भी अंत हो गया, और सत्ता तथा अधिकार की लोलुपता से उत्तरा-

धिकार की लड़ाइयाँ आये दिन की घटनाएँ बन गई। यह प्रकट ही था कि ऐसे अवसरवादी, लोलुप और निरंकुश राजाओं का शासन राष्ट्र की सुव्यवस्था के लिये न होकर भोगविलासिता और अपने सुख के लिये था। फलतः शासन और शांतिस्थापन की ओर से ध्यान हटने लगा और राजकोष का रुपया इन राजाओं की मनमानी पूरी करने में लुटाया जाने लगा। साम्राज्य से प्रांत अलग होकर स्वतंत्र बन गए और थोड़े समय के अनंतर वहाँ भी ह्रास के वे ही दृश्य दिखलाई पड़ने लगे।

मुगल-साम्राज्य के ह्रास से हिंदू जागरण के रूप में मराठा-शक्ति के अभ्युदय की कल्पना कुछ लोगों को होने लगी थी। किंतु यह कल्पना पूर्ण रूप से कार्यान्वित न हो सकी। हिंदू पुनरुत्थान के संरक्षक रूप में इन मराठों का मुसलमानी शक्तियों से विरोध अनिवार्य था। साथ ही इनके आक्रमण और अत्याचारों से राजपूतों और अन्य शुभेच्छुओं की सहानुभूति भी इनसे न रह सकी। फिर त्वरित आक्रमणों में कुशल होते हुए भी जमकर लड़ने की इनमें शक्ति न थी। इसी से पानीपत की मराठा-पराजय के साथ मराठा-साम्राज्य या स्वप्न भी नष्ट हो गया। मराठों को हरानेवाले अब्दाली का शासन भी भारत में बिना दूसरों की सहायता के असंभव सा हो गया।

इस प्रकार जन-जीवन में अशांति, लूट-पाट और नोच-खसोट का बोलबाला हो गया। क्योंकि निर्णयात्मक युद्ध असंभव था और ऐसे निरंकुशों की शासन-पद्धति व्यक्ति-विशेष की इच्छा पर आधारित थी और उसका उद्देश्य अपना तथा अपने दरबार की तड़क-भड़क तक ही परिमित था। इस प्रकार आदर्श के स्थान पर अवसरवादिता आई और कर्तव्य के स्थान पर व्यक्तिवादिता और विलासिता।

यह है अठारहवीं शती का स्थूल चित्र—निरन्तर युद्ध, अशांति, लूट-पाट, राजकोष रिक्त, प्रजा दरिद्र। इस चित्र का उज्ज्वल अंश भी है। इतना कहना पड़ेगा कि शासक चाहे जितने निरंकुश रहे हों और शासन के कार्यभार से चाहे जितने विमुख, फिर भी उन्होंने साहित्य, संगीत और कला को जी खोलकर प्रोत्साहन दिया। सभी शासकों ने अपने दरबार की शोभा बढ़ाने

के लिये खजाने खोल दिए। उस समय की कला और साहित्य का उत्कर्ष इसका प्रमाण है। मुहम्मदशाह के समय की दिल्ली दूसरे नगरों के समक्ष कला, संस्कृति, रमणीयता (नफ़ासत) और विलासिता का उदाहरण उपस्थित करती थी। अच्छे कलाकार वहाँ निवास करते थे। स्वयं नादिरशाह यहाँ से कुशल कलाकार, संगीतज्ञ और विद्वानों को अपने दरबार की शोभा बढ़ाने को ले जाना चाहता था।

जयपुर, जोधपुर, उदयपुर, लाहौर, मुर्शिदाबाद और लखनऊ के उद्यान और वास्तुकला उस समय की सौंदर्य-भावना के अन्यतम प्रतीक हैं। यह समय काव्य, संगीत, चित्रकला और विज्ञान के उत्थान का भी है। मुहम्मदशाह उर्दू काव्य का प्रथम संरक्षक है। इसका समय उर्दू काव्य का स्वर्णयुग माना जाता है। दिल्ली उजड़ने के उपरांत लखनऊ, रामपुर और हैदराबाद उर्दू काव्य के क्षेत्र बन गए; दर्द और सोज, सौदा और मीर की परंपरा को इंशा और रंगी, नासिख और आतिश तथा हाली और आजाद ने नवीन दिशा की ओर मोड़ा। मराठी और बंगाली साहित्य की भी उन्नति हुई। इस समय को हम हिंदी का स्वर्णयुग मानें चाहे न मानें, किंतु इसे काव्य का प्रेमयुग तो कहा ही जा सकता है। यही समय हिंदी की रीतिकालिक कविता का है।

जयपुर और जोधपुर ने संगीत की नई शैलियों को जन्म दिया। संगीत और नृत्य उन्नति की चरम सीमा पर थे। सवाई जयसिंह से विज्ञान को प्रोत्साहन मिला। उनकी बनवाई वेधशालाएँ अब भी भारत का गौरव बढ़ा रही हैं।

काव्य और संगीत के समान यह समय भारतीय चित्रकला की उन्नति का भी युग है। मुहम्मदशाह का शासनकाल उत्तरकालीन भारतीय चित्रकला का उत्कर्षकाल माना जाता है। बहादुरशाह प्रथम और फर्रुखसियर ने चित्रकला को प्रोत्साहन दिया। यह प्रोत्साहन केवल दिल्ली तक ही परिमित न था। प्रांतीय शासकों ने भी इसकी उन्नति में योग दिया जिसके फलस्वरूप विभिन्न प्रांतीय शैलियों का प्रादुर्भाव हुआ। हैदराबाद, पूना, बनारस, लखनऊ, लाहौर आदि स्थानों में चित्रकला अपनी विशिष्ट शैलियों में विकसित

हुई, जिनमें लखनऊ, जयपुर, जोधपुर और काँगरा की शैलियाँ विशेष प्रमुख हुईं।

इससे यह प्रकट है कि उस समय की राजनीतिक चालों और शासकों की कर्तव्यविमुखता की हम चाहे कटु आलोचना करें, किन्तु अठारहवीं शती की उन्नत और विकसित संस्कृति के विषय में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह है कि समसामयिक संकट, अशांत परिस्थिति तथा जीवन के बीच काव्य और कला की इन कृतियों का स्थान क्या है। इसपर विचार करने के पूर्व उस समय के सामाजिक आदर्शों और मनोवैज्ञानिक वातावरण का संक्षिप्त परिचय अप्रासंगिक न होगा। यह कहा जा चुका है कि हिंदू और मुसलमानों के पारस्परिक सहयोग पर टिका हुआ अकबर का आदर्शवाद औरंगजेब के कट्टरपन का आघात न सह सका। वह ढह गया। औरंगजेब का न कोई सिद्धांत था और न कोई आदर्श। यदि कोई आदर्श था तो अवसरवादिता और वैयक्तिक आत्मसेवा या अहंता (Egoism)। तो भी औरंगजेब के समय तक उसका कट्टरपन कम से कम एक पक्ष (मुसलमानों) की तुष्टि के साधन में समर्थ रहा और उसकी दृढ़ता ने साम्राज्य को छिन्न-भिन्न न होने दिया। फिर भी अकबर के सामान्य आदर्शवाद की क्रियात्मकता न रही और जन-जीवन अधिकांश में तो परंपराबद्ध हो गया और अल्पांश में विशिष्ट व्यक्ति की अहंभावना द्वारा संचालित। मुगल-दरबार की तड़क-भड़क और विलासिता ने भी इस अहंभावना (Egoism) को उकसाया। विलासिताका अर्थ ही है सत्ता, धन और जीवन के आनंद का भोग। इसमें नव-निर्माण की अपेक्षा निर्मित वस्तु की सजावट की ओरं अधिक ध्यान जाता है। जन-जीवन को अधिक क्रियात्मक बनाने के स्थान में जीवन को अधिक संस्कृत बनाने का प्रयास होता है। परिणाम यह होता है कि आर्थिक कठिनाइयों के कारण जनसाधारण तो पीछे रह जाता है और कुछ विशिष्ट व्यक्ति कुछ दिशाओं में अधिक संस्कृत और शिष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप उन विशिष्ट व्यक्तियों या वर्गों का साधारण सांस्कृतिक जीवन से संपर्क छूट जाता है। साधारण जनता सभ्यता के इन वरदानों से वंचित रहती है और वह शिष्ट समुदाय से उदासीन हो जाती तथा कभी-कभी इनकी विरोधिनी भी बन जाती

है। इस प्रकार केवल हवाई आधार पर स्थित संस्कृति किसी दूसरी सभ्यता के वेग को सहन करने में असमर्थ प्रमाणित होती है।

इस प्रकार औरंगज़ेब की मृत्यु के अनंतर व्यक्तिगत अहंभावना और अवसरवादिता का बोलबाला हो गया। अपनी डफली, अपना राग। उत्तर-दायित्व की भावना के दुर्बल होने के कारण और कर्तव्य के अभाव में व्यक्ति की शक्ति जीवन के आनंदोपभोग और अधिकार-प्राप्ति में लग गई। इस प्रकार समाज में हर एक का हर दूसरे से संघर्ष शुरू हुआ। इसके साथ ही समाज के शरीर में नाश का विष भी व्याप्त हो गया; अतः सामान्य उद्देश्य और उत्तरदायित्व से हीन समाज में व्यक्ति ही सब कुछ है और उसकी अपनी भावनाओं की सीमा के बाहर और कुछ भी नहीं। इसी से अपने में केंद्रित शासक और दरबारी मनमाने खर्च में होड़ सी लगाए रहते थे। एक बात और भी थी। उस समय कुछ भी निश्चित न था। दरबारी जानते थे कि सब कुछ अनिश्चित है। यदि आज सिर पर ताज है तो कल तलवार। यदि आज का राजा कल राह का भिखारी बन जाय तो उन्हें कुछ आश्चर्य न होगा। इसी से ये दरबारी 'यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्' को मानते थे। इसी से इन्होंने मनमाना व्यय किया। इसी से इन्होंने लूटा और लुटाया तथा स्वयं लुट गए। सौंदर्य के स्वप्न देखे गए और उनको सत्य बनाया गया। इस कृत्रिम समाज का आदर्श ही था सौंदर्य और प्रेम। भावलोक का सौंदर्य काव्य में मिला। कवि पुरस्कृत हुए। नाद-सौंदर्य संगीत में ढूँढ़ा गया, संगीतकारों पर कंचन की वर्षा हुई। वर्ण-सौंदर्य की चित्रकला में खोज हुई, चित्रकार की चारुता पर हृदय विमुग्ध हुए। जड़-सौंदर्य निखरा वास्तुकला में। शिल्पी संमानित हुआ। लेकिन इस समाज के आदर्श को पूर्णता मिली नारी के सौंदर्य और प्रेम में। काव्य, संगीत और चित्र तीनों इसके ऋणी हैं, नारी तत्कालीन सौंदर्य-भावना की चरम अभिव्यक्ति की पूर्ण परिणति मान ली गई। सौंदर्यमयी नारी के लिये क्या नहीं किया इस समाज ने। युद्ध हुए, समाज के बंधन शिथिल कर दिए गए। नारी का जीवन, नारी का प्रेम, नारी का सौंदर्य-चित्र, काव्य और संगीत में अंकित हुआ। अभिसारिका के चित्र, नायिका-भेद, नखशिख, होली-वसंत के गीत और रागमाला के चित्र, इन सबमें नारी का

जीवन ही तो वर्णित-चित्रित है। समाज में सौंदर्यपूर्ण नारी का मूल्य और महत्त्व था। सौंदर्य से दीपित नारियों का शासक और समाज दोनों पर प्रभाव था, इनमें से कुछ में तो केवल बाह्य सौंदर्य था और कुछ में सौंदर्य के साथ प्रतिभा भी थी। इनकी स्मृति के साथ प्रेमपूर्ण कहानियाँ भी लिपटी हैं। नारी का यह महत्त्व शुद्ध सौंदर्य-भावना पर स्थित था, इसी से नजर से उतरी हुई नारी के लिये कोई स्थान न था। वह चाहे मरे चाहे जिए। नारी की इस पदप्रतिष्ठा का कारण उस समय की कलात्मक भावना थी जो उसमें सौंदर्य की पूर्ण परिणति मानती थी, और यह सौंदर्य-भावना या रूप-लिप्सा और प्रेम-प्राप्ति इस पारखी शिष्ट समाज के जीवन का आधार और ध्येय थी, यही आकर्षण-केंद्र थी जो जीवन में जीने की चाह बनाए थी। यही सौंदर्य-भावना चारों ओर व्याप्त दुःख, अशांति और अनिश्चय के बीच जीवन का उत्साह स्पंदित कर रही थी, क्योंकि यह तो सभी जानते और मानते थे कि यहाँ की तड़क-भड़क सब कुछ क्षणभंगुर है।

इस प्रकार आदर्श जब व्यक्ति की समस्या और उपभोग तक सीमित रह गया तो उसकी क्रियात्मक शक्ति के लिये व्यवहारात्मक जगत् में कोई स्थान न रह गया। कला का शुद्ध सौंदर्यलोक उसका क्षेत्र बना, वह भावलोक के स्वप्न, प्रेम की मादकता और संगीत की तन्मयता में लीन हो गया। इस प्रकार इस समाज और संस्कृति ने नाच-गान और कोमल भावनाओं के स्वप्निल और उन्मद वातावरण की सृष्टि की।

इतना कहने के बाद अब कदाचित् यह कहने की आवश्यकता न हो कि इस वातावरण में प्रसूत कला की कृतियाँ जानते-बूझते कृत्रिम और अवास्तविक हुई हैं। इनका आधार जीवन की वास्तविकता और यथार्थ नहीं है प्रत्युत शुद्ध सौंदर्य का आदर्श है। इसी से इस समय के कलालोक के सौंदर्य पर परीलोक के स्वप्नमय उन्मादकारी रूप का परिधान है। कोलाहल के बीच शांति और प्रसन्नता की वर्षा करनेवाले उद्यानों के बीच खड़े शाही महल अवास्तविक हैं। चित्रकला में मुगल-काल की यथार्थ अंकन की प्रमुख प्रवृत्ति का लोप है। चित्रों में मानो प्रेम आध्यात्मिकता और ऐंद्रिकता (Soul and

Sense) की संगीतमय उन्मादकारी अभिव्यक्ति को लिए हुए मूर्तिमान् हुआ। काव्य में शृंगार और प्रेम की कोमल भावनाओं के युग का जन्म हुआ जिसमें एक ओर मरसिया और दूसरी ओर राधाकृष्ण की चर्चा का गुणगान था धार्मिक साहित्य भी इसी ओर झुकता गया। नृत्य और गान का भी यही युग था। समय के विकास के साथ भावना अधिक से अधिक सौंदर्यमय रूप में प्रस्फुटित होती गई और इसके साथ भाषा-कौशल और चमत्कार की वेदी पर भावों की बलि भी चढ़ाई जाने लगी।

इस संस्कृति के पोषक समाज के समक्ष दुःखमय वातावरण से ऊपर ही सच्चा जीवन है। शिष्ट और संस्कृत भावना दैनिक जीवन से त्राण पाने के लिये काव्य और कला की सौंदर्यसृष्टि की शरण में जाती है। इसी से इस समाज ने भी अपने चारों ओर बिखरी कटु वास्तविकता से आँख मूँदकर काव्य और कला का पल्ला पकड़ा और इनके लिये सब कुछ लुटा दिया। इसी से राजनीतिक ह्रास के बीच मिलती है कला, विलासिता, नैतिकता का अभाव, प्रेम और सौंदर्य-भावना जो दैनिक जीवन से दूर स्वप्नमय कृत्रिम सौंदर्य-लोक के निर्माण और नारी की सुंदरता की पूजा में प्रवृत्त हुई।

यह है उस समय के व्यक्ति और समाज की भावना और उसके मानस का अत्यंत संक्षिप्त चित्र। उस समय के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक वातावरण को समझ लेने पर घोर संकट और उज्ज्वल संस्कृति के विरोधी चित्र असंबद्ध नहीं प्रतीत होते। एक ओर राजनीतिक और आर्थिक अधःपतन और दूसरी ओर शिष्ट सौंदर्यपूर्ण संस्कृति के उज्ज्वल चित्र को देखकर कुछ आश्चर्य नहीं होता; क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि नैतिक और राजनीतिक उन्नति का युग कला और संस्कृति के उत्कर्ष का भी युग हो। इतिहास तो इसी बात का संकेत देता है कि कला और संस्कृति की उन्नति प्रायः उस समय शुरू होती है जब राजनीतिक और आर्थिक अधःपतन शुरू हो जाता है। फ्रांस और इटली के सांस्कृतिक अभ्युत्थान के समय नैतिक और आर्थिक ह्रास का उल्लेख बहुत से विद्वानों ने किया है। इस मनोवैज्ञानिक वातावरण को समझ लेने पर अठारहवीं और उन्नीसवीं शती के आरंभ के संकटमय जन-

जीवन के बीच काव्य तथा अन्य कलाओं का स्थान अपने-आप समझ में आ जाता है और इन दोनों की विषमता भ्रम में नहीं डालती।

ऐसे वातावरण के बीच हिंदी-काव्य के उस युग का जन्म और विकास हुआ जिसे इतिहासकार 'रीति-काल' कहते हैं। इस मानसिक और सामाजिक पीठिका को ध्यान में रखने से रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ स्वाभाविक और सहेतु मालूम पड़ती हैं; किंतु कुछ समालोचक इन्हीं विशेषताओं को दोष मानकर उनकी कटु आलोचना करते हैं। कहा जाता है कि यह काव्य रूढ़ और परंपराबद्ध है। इसमें काव्य-विषयों की नवीनता, अनेकरूपता और विविधता के स्थान पर केवल पुनरावृत्ति है। दूसरा दोष है, इसकी कृत्रिमता जिसने सजावट और चमत्कार के लिये भाव की बलि चढ़ा दी। इसकी सबसे बड़ी दुर्बलता है इसकी श्रृंगारिकता और नैतिकता का ह्रास और प्रबंध की सतत प्रवाहित रसधारा के स्थान पर स्फुट काव्य की प्रचुरता। इस संबंध में दो-चार शब्द कहना अप्रासंगिक न होगा।

यदि हम उस समय के जीवन को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज की क्रियात्मक शक्ति का इस शती में लोप हो चला था और समाज तथा जन-जीवन परंपरा और रूढ़ि द्वारा संचालित हो रहा था। केवल थोड़ी-बहुत अहंभावना थी। लोग अपना कौशल नवीन निर्माण में न दिखाकर सजावट और हाथ की सफाई में दिखा रहे थे। वस्तु परंपराप्राप्त थी। उनकी अहंभावना (Egoism) शैली और सफाई में झलकती थी और इसी का आदर होता था। इसी से काव्य और कला के विषय अनेक नहीं हैं। फिर भी कवियों और चित्रकारों ने उनपर अपनी छाप डाल दी है। एक बात और है। काव्य का काव्यत्व वस्तु की नवीनता में न होकर रस के उत्कर्ष में होता है और इस विषय में कदाचित् सभी सहमत होंगे कि रीतिकालीन काव्य में रस-संचार की क्षमता है। अस्तु! इस प्रकार जब उस समय का समाज तथा जीवन ही परंपरा-ग्रस्त एवं रूढ़िबद्ध था और जीवन की झलक दिखानेवाली कविता भी इसी का संकेत दे रही थी तो कोई आश्चर्य नहीं। आश्चर्य तो तब होता जब उस समय के काव्य ने परंपरा का आश्रय न लिया होता। कृत्रि-

मता के विषय में भी बहुत कुछ यही कहा जा सकता है। दरबार की तड़क-भड़क कृत्रिम थी। दरबारियों का जीवन भी कृत्रिम था। वे जानते थे कि यह चमक-दमक ऊपरी है। न इसमें वास्तविकता है, न स्थिरता और न कुछ सार। जीवन की यथार्थता से दूर उनका सारा कार्य-कलाप था। कहना चाहें तो यह भी कह सकते हैं कि वे कटु वास्तविकता को अपने कृत्रिम कार्य-कलाप के बीच भुलाना चाहते थे। इसलिये फिर वही बात दुहरानी पड़ेगी कि जिस समाज और संस्कृति का जीवन और आदर्श ही ज्ञानरूप से कृत्रिम है उसके काव्य में कृत्रिमता अनिवार्य है। ऊपर इतना लिख चुकने के बाद शृंगारिकता के विषय में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं। नारी के सौंदर्य की प्रशंसा तो इस समाज का प्राण और इस संस्कृति का आधार थी। और दरबार की इस अस्थिरता के बीच लंबे प्रबंध-काव्य लिखने का न अवकाश था और न आवश्यकता। कवि अधिकतर राज्याश्रित थे। जब दरबारियों का ही कोई ठिकाना न था और भाग्य उन्हें किसी क्षण भिखारी बना सकता था तो कवि कब यह आशा कर सकते थे कि लंबी अवधि के बाद पूर्ण होने पर उनका काव्य पुरस्कृत होगा।

वहाँ तो नजर बदली और भाग्य ने पलटा खाया। इससे 'तुरंत दान महाकल्याण' और उसके लिये स्फुट काव्य और स्फुट छंद ही परमोपयुक्त। दरबार के बीच एक चुभता हुआ दोहा सुनाया, एक अशर्फी मिल गई। प्रशंसा में फड़कते हुए जितने कबित्त सुनाए उतने लक्ष मिल गए। दरबार तो वाक्पटुता और हाजिर-जवाबी की जगह है। पद-प्राप्ति उसी को हो सकती है जो तत्क्षण अपना प्रभाव जमा सके। इसलिये वहाँ ऐसी बात कहनी पड़ती है जिससे तुरंत सिक्का जम जाय। लोग कौशल, चमत्कार और पटुता के भुलावे में रह जायँ। सामग्री के खरेपन और खुटाई को देखने के लिये तल तक पहुँचने का ध्यान ही न रह जाय। इसी से तत्कालीन काव्य में कृत्रिमता है और साथ ही चमत्कार की प्रधानता। इसी से चमत्कार-प्रधान अलंकार यमक, श्लेष, विभावना, असंगति, विरोधाभास आदि का प्राचुर्य है और कवि की प्रतिभा और कौशल को प्रमाणित करने के

लिये अनुप्रासों की छटा और बहार का। स्फुट काव्य की अधिकता का यही कारण है।

ये विशेषताएँ केवल काव्य तक ही सीमित नहीं हैं। सौंदर्य, शृंगार, अलंकरण और कृत्रिमता की प्रवृत्ति वास्तु, संगीत और चित्रकलाओं के बीच भी लक्षित होती है।

यदि रीतिकालीन काव्य के साथ इस समय की चित्रकला का अध्ययन किया जाय तो दोनों में बहुत सी समताएँ मिलेंगी। इससे बहुत सी भ्रमपूर्ण धारणाएँ दूर हो सकती हैं। सबसे पहले चित्रकार को लीजिए। जिस प्रकार कवि राजा या दरबार के आश्रित थे उसी प्रकार चित्रकार भी राज्य की कृपा पर अवलंबित थे और अपने आश्रयदाता की इच्छा और आज्ञा के अनुसार काम करते तथा पुरस्कृत होते थे[१]। जिस प्रकार रीतिकाल के कवियों ने घरेलू व्यवहारों और व्यापारों के रमणीय शब्द-चित्र उपस्थित किए हैं, कृष्ण-काव्य के रूप में लोकप्रिय धार्मिक भावना की झलक दिखाई है, उसी प्रकार की विशेषता के लिये चित्रकला की राजपूत शैली भी प्रख्यात है[२]। चैनू की टेहरी गढ़वाल की पहाड़ी शैली में अंकित कला के लिये जो कहा जाता है वही बात

१. He formed one of the retinue of the court and in a sense was a courtier. In a direct employment of a king or noble, he carried on his work according to the commands of his patron.

—INDIAN PAINTING by Percy Brown, Page 10.

२. Apart from its (i. e. Rajput painting) delineation of great religious dramas of Hinduism in its domestic character it reflected the beliefs and customs of the common people, thus producing an artistic folk lore of unusual interest. Its chief aim however was to present innumerably graphic aspects of their religion to the people in a portable and popular manner literally for household uses.

—INDIAN PAINTING by Percy Brown, Page 8.

काव्य के लिये भी कही जा सकती है[1]। काव्य की अलंकरण और विलासिता की प्रवृत्ति के समान चित्रकला में भी सजावट की प्रवृत्ति शाहजहाँ के समय से शुरू हो गई थी[2]। काव्य के समान चित्रों में भी नायिका-भेद, अभिसार और प्रेम के चित्रों का प्राचुर्य है। दतिया राज्य के पुस्तकालय में रसराज और बिहारी-सतसई पर बने हुए चित्रों का संग्रह है। काव्य में भाव से अधिक भाषा के शृंगार के समान ही १८वीं और १९वीं शती (के आरंभ) की चित्रकला भी इन दुर्बलताओं से ग्रस्त है[3]। इस प्रकार रीतिकालीन काव्य की विशेषताएँ अपने ही तक सीमित नहीं हैं। उन्हीं से मिलती-जुलती प्रवृत्तियाँ दूसरे क्षेत्रों में भी लक्षित होती हैं।

यह सब लिखने का तात्पर्य यह नहीं कि रीतिकालीन काव्य की दुर्बलताओं, अभावों और त्रुटियों पर पर्दा डाल दिया जाय। निवेदन इतना ही करना है कि अतीत को वर्तमान के चश्मे में से न देखें। प्रत्येक युग का काव्य अपने समय की संस्कृति, समाज और मनोदृष्टि का निदर्शन है और उसका विधान तत्कालीन परंपरा, विचार और आवश्यकताओं के उपादानों से होता है। रीतिकालीन काव्य आज से विभिन्न सामाजिक और सांस्कृतिक आधार पर निर्मित है। इसलिये १९वीं और बीसवीं शती के विचारों का मानदंड लेकर (जो हमारे समय और आवश्यकताओं के चाहे जितना अनुकूल हो) रीतिकालीन काव्य की विवेचना बहुत युक्तियुक्त नहीं है। सहसा कोई निर्णय कर

---

१. It is an art of definite conventions and certain limitations but within its own range supreme in its sincerity and refinement.

—STUDIES IN INDIAN PAINTING by N. C. Mehta.

२. There is an increased sense of richness and luxury in colouring and composition and the artist's handling is not so vigorous. —Ibid. page 45.

३. During 18th and 19th century "The accessories indicate an ostentation and a want of taste, typical of the state of Oudh at that time. Executed with all the technical care of mediaeval miniatures of the last period they are spoilt by the vulgarity of their setting."

देने की अपेक्षा उसके समझने की चेष्टा करनी चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि रीतिकाल के काव्य की प्रवृत्तियों का विश्लेषण और उनकी व्याख्या तत्कालीन ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों और अभावों को ध्यान में रखकर की जाय। इस युग का महत्त्व जीवन के राज-नीतिक, आर्थिक और व्यावहारिक पक्ष के आश्रित न होकर जीवन के संस्कृत सौंदर्य पर आश्रित है।

फिर भी यह प्रश्न होता है कि ऐसी संस्कृति का उन्नीसवीं शती के आरंभ में ऐसा अंत क्यों हुआ। यह समस्या नैतिकता के अभाव से प्रसूत थी। समाज, जाति और राष्ट्र के सामने कोई सर्वसामान्य आदर्श न था, जिसे सभी अपनाते और जिसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्नवान् होते। व्यक्ति में आदर्शों को कार्यान्वित करने का अनुराग जगाने के लिये आवश्यक है कि वह उनको संभव समझे। दूसरे शब्दों में आदर्श देश की आवश्यकताओं के अनुकूल हों, ऐसी परिस्थिति में जब कि निर्णयात्मक युद्ध के अभाव में निरंतर युद्ध की समाप्ति की कोई आशा न थी। यह कहा जा चुका है कि उस समय व्यक्ति की प्रधानता हो गई थी और उसकी अहंभावना कर्तव्य से च्युत और अपने भोग-विलास की ओर झुक रही थी। सामान्य जनता से संस्कृति का संपर्क टूट चुका था। देश की विविध जातियों और धार्मिक तत्त्वों को एक सूत्र में बाँधनेवाले रचनात्मक तथा क्रियात्मक आदर्श का अभाव था और देश आर्थिक ह्रास तथा नैतिक अधःपतन के गर्त में गिर चुका था। भारत की अठारहवीं शती का नाश अनिवार्य था। समय के फेर से १९वीं शती के आरंभ में भारत का भाग्य-सूत्र एक ऐसी नई विदेशी जाति के हाथ में आया जिसमें इस परिस्थिति को सँभालने की क्षमता थी क्योंकि उनका आदर्श व्यावहारिकता के विरुद्ध न था, प्रत्युत समय की आवश्यकता के अनुकूल था। इसके साथ उनकी आर्थिक नीति रचनात्मक, भौतिक तथा आर्थिक समृद्धि का दृश्य सामने ला रही थी। इस जाति के प्रभुत्व के साथ उसकी संस्कृति का प्रभुत्व भी बढ़ रहा था। फलतः उन्नीसवीं शती के इस सांस्कृतिक उथल-पुथल से नवीन भारत का जन्म हुआ।

उन्नीसवीं शती

(पूर्वार्ध)

पूर्व के पृष्ठों के संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि भारतीय अधःपतन १८वीं शती के अंत तक अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। यह समय जातीय जीवन के ह्रास का था जिसका बहिरंग कलह और भेद से भरा था और जिसने बाहर से आई हुई जाति को शासक बनने का सुयोग दिया, जिसके आन्तरिक जीवन की कारयित्री प्रतिभा का लोप काव्य, कला, धर्म आदि सभी में गोचर हो रहा था, जहाँ नवीन निर्माण और विकास के स्थान पर पथराई हुई रूढ़ियों की लीक पीटी जा रही थी। यह दशा उन्नीसवीं शती के कई दशकों तक रही।

भारतीय जीवन और इतिहास में उन्नीसवीं शती का अत्यधिक महत्त्व है। परिवर्तन और ह्रास इस शती की प्रमुख विशेषताएँ हैं। सबसे बड़ा परिवर्तन तो यह हुआ कि व्यापार के लिये आई विदेशी जाति यहाँ के नरेशों के अधिकार छीनती हुई शासक बन बैठी। इस राजनीतिक परिवर्तन के फलस्वरूप सभी प्रकार के (आर्थिक तथा सांस्कृतिक) ह्रास का वेग और भी बढ़ गया। व्यापारी कंपनियों ने शासन जमाना शुरू किया और देशी राज्यों के आपसी झगड़ों में हस्तक्षेप करने से उनका राजनीतिक प्रभाव भी बढ़ने लगा। इसके साथ ही भारतीय व्यापार से उनकी प्रतिद्वंद्विता भी बढ़ी जिसमें यहाँ के उद्योग-धंधों का नाश ही हो गया। फैक्टरी और मशीन के बने हुए सामान के सामने हाथ की बनी हुई चीजें कब तक ठहर सकती थीं। इस प्रतिद्वंद्विता में न ठहर सकने के कारण भारत कच्चा माल तैयार कर बाहर भेजने को बाध्य हुआ। इस प्रकार योरप की फैक्टरियों की आर्थिक पराधीनता में वह ऐसा फँसा कि आज तक निकलना दूभर है।

ब्रिटिश जाति के भारत में अभ्युदय से स्थिति में जो उथल-पुथल और परिवर्तन हुआ उसका प्रभाव केवल व्यापार तक ही सीमित न रहा। भारत

की संपूर्ण आर्थिक स्थिति पर इसका व्यापक प्रभाव पड़ा। राजनीतिक स्वतंत्रता के अपहरण के फलस्वरूप हिंदू और मुसलमान दोनों के बहुत से अधिकार छिन गए। मुगलों के शासन-काल में हिंदुओं को अत्यंत संमानपूर्ण उच्च पद दिया जाता था। देश के शासन और सैनिक दोनों विभागों में हिंदुओं का प्रवेश था। लेकिन ब्रिटिश जाति के शासक-रूप में प्रतिष्ठित होने पर यह अधिकार छिन गया। दूसरी विषमता यह थी कि मुगल-शासक भारत में बस गए थे जिससे यहाँ के कला-कौशल को प्रोत्साहन मिला, लेकिन ब्रिटिश जाति यहाँ बसने नहीं आई। उसका ध्येय भारत में आकर पैसा कमाकर अपने देश को लौट जाना है। वह अपनी सभ्यता को ऊँचा समझने के कारण भारतीयों से बराबरी का संमानपूर्ण बर्ताव नहीं करती। मुगलों के शासन में जनता समृद्ध और संपन्न थी क्योंकि एक ओर तो योरप से व्यापारिक लाभ था और दूसरी ओर वैभव और विलास की सामग्रियों की माँग बढ़ गई थी, लेकिन इस नई जाति ने देश की आर्थिक नींव का आधार ही बदल दिया।

अठारहवीं शती के अंत तक भारतीय समाज के उत्तरदायित्व का स्वरूप अधिकतर कुल, जाति और गाँव की पंचायत तक सीमित था। गाँव अपने में पूर्ण और आत्मनिर्भर थे। भारतीय समाज का आधार (Feudal) कृषि-प्रधान था जिसपर शासन और शासकों के परिवर्तन का प्रभाव न पड़ता था। एक ओर युद्ध होता था और दूसरी ओर हल चला करता था। शासक गाँवों के जीवन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न करता था। उसका प्रभाव केवल आक्रमण, राजकर और जमींदारों से लगान के रूप में ही दिखाई पड़ता था। लेकिन ब्रिटिश जाति का संपर्क इतना नगण्य न रह सका। उसने शासन का स्वरूप ही बदल दिया। उसकी आर्थिक साम्राज्यवादिता की नीति का प्रभाव अत्यंत व्यापक रहा। राजनीतिक स्वतंत्रता के अपहरण के साथ-साथ आर्थिक दासता की बेड़ी भी पड़ गई। उसकी नीति से भारत के मध्यम वर्ग का व्यापार छिनकर अँगरेज जाति की एजेंसियों और मध्यम वर्ग के हाथ चला गया और भारत के सच्चे मध्यम वर्ग का उन्मूलन हुआ। भारतीय व्यापार से हटकर कृषि की ओर झुकने को बाध्य हुए। उनकी नीति से

पंचायत प्रथा की नींव भी हिल गई। दीवानी में उनकी स्थायी व्यवस्था (Permanent Settlements) की नीति से बहुत से पुराने जमींदार परिवार नष्ट हो गए। ब्रिटिश जाति द्वारा प्रवर्तित व्यापारिक, आर्थिक और भूमि-संबंधी नीतियों से बडी विषमता उत्पन्न हो गई। इस उथल-पुथल के फलस्वरूप इन क्षेत्रों में ऐसे व्यक्ति आए जो पूर्व वर्गों के उत्तराधिकारी न थे, धीरे-धीरे ऐसे वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ जो परंपरा से प्राप्त सच्चे मध्यम वर्ग से बहुत दूर था। इस वर्ग का जन्म ब्रिटिश जाति की कृपा से हुआ था। फलतः वह इस नवीन जाति की ओर जितना झुका था और उसकी कृपा-कोर का जितना अभिलाषी था उतना ही अधिक यह भारतीयता से अपरिचित था। सांस्कृतिक दृष्टि से ब्रिटिश शासन का महत्त्व इस खोखले मध्यम वर्ग की उत्पत्ति में है जिसका कि देश के आर्थिक-सामाजिक जीवन के विकास में कुछ भी योग नहीं है, जो देश की सामान्य जनता और जीवन की वास्तविकता से बहुत दूर अपने घेरे में नौकरी-पेशा बना बैठा है। ब्रिटिश जाति के शासन के आरंभ से लेकर आज तक का भारतीय संस्कृति का इतिहास इसी की मानसिक दासता, निराशा, जागरण तथा क्रियाशीलता का इतिहास है। ब्रिटिश-शासन का प्रभाव सबसे पहले बंगाल में दिखाई पड़ा। इसी से सभी प्रकार की विषमता और उथल-पुथल के दर्शन भी सबसे पहले वहीं होते हैं।

भारतीय समाज भी इसके प्रभाव से अछूता न रह सका। १८वीं शती के अंत तक इसकी गत्यात्मकता नष्ट हो गई। समाज क्रियाशीलता के अभाव में भाव-प्रतिष्ठित या भाव-मूलक (Ideational character) रह गया था, जिसमें कुछ भावनाएँ स्थिर रूप से अत्यन्त प्रमुख और सर्वोपरि थीं। आवश्यकता, साधन और साध्य के विषय में स्थिर धारणाएँ थीं। इसी प्रकार सामाजिक सौंदर्यगत (Aesthetic) और नैतिक मूल्य (Values) तथा वाद भी निश्चित थे और सत्य, आत्मा आदि के विषय में कुछ सामान्य भावनाएँ बन गई थीं। व्यक्ति के लिये कर्मकांड का पालन आवश्यक था। समाज में नैतिक गरिमा का धर्मगत प्रभुत्व (Hierarchy of values) था और वे भावनाएँ अधिक महत्त्व की मानी जाती थीं जो आध्यात्मिकता की ओर ले

चलती थीं। उन साधनों का मूल्य था जो आध्यात्मिक सफलता में सहायक थे और उन व्यक्तियों का सम्मान था जो इस पथ पर आगे बढ़े हुए थे। भारतीय समाज धर्म-मूलक था। आध्यात्मिकता, आदर्शवादिता और पारलौकिकता (Other-worldliness) उसकी विशेषता मानी जाने लगी थी।

उन्नीसवीं शती में भारतीय समाज का यह स्वरूप स्थिर न रह सका। ब्रिटिश जाति के संपर्क से उसका भावप्रवण चारित्र्य (Ideational character) समाप्त हो गया। धार्मिक भावनाओं का जो रंग दिखलाई पड़ता है वह सच्ची धार्मिकता से प्रसूत नहीं है, प्रत्युत वह मध्यम वर्ग के नैराश्य और अभावों के परिणाम-स्वरूप है। दूसरा कारण यह भी है कि कोई दूसरा आदर्श या ध्येय अभी इसका पूरी तरह से स्थानापन्न नहीं बन सका है।

इस प्रकार भारत में उन्नीसवीं शती में जिन दो सभ्यताओं का संपर्क हुआ वे एक दूसरे से विभिन्न थीं। ब्रिटिश संस्कृति भौतिक समृद्धि और ऐहिक संपन्नता का का झंडा गाड़ती हुई आई थी और पारलौकिकता तथा ऐहिक उदासीनता भारतीय संस्कृति की विशिष्टता थी। योरोपीय संस्कृति विज्ञान का सहारा लेकर बड़े वेग से आगे बढ़ रही थी और दस्तकारी तथा हस्तलाघव पर आश्रित भारतीय संस्कृति इसकी प्रतिद्वंद्विता में नहीं ठहर रही थी। दोनों के नैतिक और सामाजिक आदर्शों में भी बड़ा अंतर था। उन्नीसवीं शती की योरोपीय संस्कृति वर्ग-वैषम्य (Feudalism) से निकलकर यंत्र-विद्यारत (Mechanical) और व्यवसाय-पटु (Industrial) बन गई थी। साथ ही उसकी राजनीतिक विचारधारा में भी बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया था। विज्ञान की उन्नति ने वास्तविक को अधिक तर्क और विवेचनशील बना दिया और मनुष्य अपने को सबसे ऊपर और अलग मानने लगा। व्यक्तिवादिता की चर्चा हुई। तामस पेन (Thomas Paine) ने 'मानव के अधिकार' ('राइट्स ऑव् मैन' Rights of Man) में मनुष्य की स्वतंत्रता और अधिकारों की स्थापना की। 'सामाजिक प्रतिज्ञा' (सोशल कांट्रैक्ट Social Contract) में रूसो ने बिखरे हुए मनुष्य के संघटन की रूपरेखा देकर समाज-संचालन का विधान उपस्थित किया। फिर भी व्यक्ति के अधि-

कार सुरक्षित थे। उसकी इच्छा के विरुद्ध न कोई उसपर शासन कर सकता था और न कर लगा सकता था। व्यक्तिवादिता की भावना धीरे-धीरे उन्नीसवीं शती के राजनीतिक विधानों में प्रविष्ट हुई और प्रजातंत्र आगे बढ़ा। इस प्रकार योरोपीय संस्कृति में व्यक्तिवादिता प्रमुख हुई। भारतीय संस्कृति में व्यक्ति का अधिक महत्त्व न था। वह समाज का अंग था। उसकी अलग सत्ता का अधिक मूल्य न था। उसके लिए सबसे अधिक महत्त्व की वस्तु थी कुल और अपनी जाति। इस प्रकार एक ओर व्यक्ति प्रधान था और दूसरी ओर जाति। इसके साथ ही व्यक्तिवादी योरोपीय संस्कृति अधिकारों की माँग और उनकी रक्षा पर अधिक जोर देती थी, किंतु भारतीय संस्कृति की विशेषता अधिकार से अधिक कर्तव्य पर जोर देती थी। उसका धर्म था कर्तव्य-पालन। भले ही एक अपने कर्तव्यों का पालन न करे फिर भी दूसरा अपने कर्तव्यों को नहीं छोड़ सकता।

इस प्रकार एक ओर व्यक्ति था दूसरी ओर वर्ग या जाति। एक ओर अधिकार दूसरी ओर कर्तव्य। एक ओर भौतिकता और दूसरी ओर आध्यात्मिकता। एक ओर विज्ञान और मशीन और दूसरी ओर मनुष्य के हाथों की शक्ति। योरोपीय और भारतीय संस्कृति के रूप में इन दो प्रकार [illegible] का संपर्क हुआ। विभिन्न होते हुए भी वे विशेषताएँ एक दूसरे की संस्कृति की पूरक बन सकती थीं और विचार-विनिमय और आदान-प्रदान स्निग्धता से चल सकता था किंतु ऐसा न हो सका क्योंकि वास्तव में संपर्क न था, प्रत्युत दो संस्कृतियों की टक्कर थी और वह भी समरूप में नहीं। यहाँ पर शासक और शासित का भाव था। योरोपीय संस्कृति शासक के रूप में प्रतिष्ठित हुई थी और उसके प्रतिनिधि भारतीय संस्कृति को बर्बर और जंगली समझते थे। विजयोन्माद में भरे ये न तो भारतीयों को आदरणीय समझते थे और न भारतीय संस्कृति का सम्मान करते थे। इसका एक कारण और भी था। ब्रिटिश जाति का भारतीय संस्कृति से परिचय उच्च विद्वान् और विचारशील प्रतिनिधियों के द्वारा नहीं हुआ था, प्रत्युत भारतीयता से उनका परिचय राजनीतिक क्षेत्र के बीच हुआ था और राजनीतिक क्षेत्र में दोनों ओर ऐसे

व्यक्ति थे जिनका चरित्र ऐसा न था जिसके प्रति श्रद्धा होती। दोनों ओर राजनीति के दाँव-पेंच. में पटु लोग थे जिनका ध्यान साधारण जन के (जो संस्कृति के सच्चे प्रतिनिधि हैं) प्रति न था[१]। इसलिए शासित जाति अपनी बेईमानी और बुराइयों को तो भूल गई और शासकों की बुराइयों को सारी संस्कृति की विशेषता बताने लगी।

दोनों संस्कृतियों का समरूप से आदान-प्रदान इसलिए और भी न हो सका कि पराजित होने के कारण भारतीय अपने को सभी क्षेत्रों में हीन समझने लगे थे। दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ लक्षित हो रही थीं। समाज का एक अंग योरोपीय संस्कृति को अत्यंत दूषित समझता था और इसलिए समाज की रक्षा के लिए उसे इसके संपर्क से बिल्कुल अलग रखना चाहता था। ब्रिटिश जाति की विजय से स्थिति में ऐसा उलट-फेर हुआ कि जिससे एक ऐसे वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ जो प्राचीनों को अपदस्थ कर आदर के स्थान का अधिकारी बना। इसका अधिकार और आदर ब्रिटिश जाति की कृपाकोर पर अवलंबित था और वह उसकी हाँ में हाँ मिलाने को सदैव तत्पर था[२]। नवीन मध्यम वर्ग की तो रोटियाँ इंगलिश जाति के सहारे चल रही थीं। यह वर्ग भारतीयता के मूल स्रोत से अलग था और इसकी विशेषता थी

---

१. The people of Bengal did not count with either set of men and the country, its morals and its social life, its trades and its cultivation rapidly went to rack and ruin.

—CULTURAL HISTORY OF BRITISH INDIA by A. Yusuf Ali, Page 6.

२. The old martial administrative and landed classes, and men of learning were depressed, and the men of subtle wits who could chime in with the new conditions acquired wealth and influence.

—CULTURAL HISTORY OF BRITISH INDIA by A. Yusuf Ali, Page 159.

अपने समाज, धर्म और संस्कृति की पूर्ण अनभिज्ञता तथा योरोपीय संस्कृति की अंधभक्ति।

इन्हीं कारणों से उन्नीसवीं शती की इन दो संस्कृतियों का सामंजस्यपूर्ण आदान-प्रदान न चल सका। शासकों की राजनीतिक दासता के साथ उनकी संस्कृति की पराधीनता भी स्वीकृत हो चुकी थी। शासकों की शैक्षिक नीति और मिशनरियों के प्रचार ने अत्यन्त संगठित रूप में इस भावना को दृढ़ किया कि भारतीय संस्कृति सभी प्रकार से हीन और हेय है और योरोपीय संस्कृति सर्वोच्च है। मध्यम वर्ग की शिक्षा-दीक्षा ने उसपर अँगरेजियत या मानसिक दासता का और गहरा रंग चढ़ा दिया।

उन्नीसवीं शती के पहले ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारतीयों की शिक्षा का कोई प्रयत्न न किया। इतना ही नहीं, कम्पनी के उच्च अधिकारी शिक्षा के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि अमेरिका में स्कूल और कालेज की स्थापना की अनुमति देकर अपनी मूढ़ता से हम उस देश को खो चुके हैं और अब हम भारत के सम्बन्ध में उसी मूर्खता को दुहराना नहीं चाहते[१]। फिर भी शिक्षा के लिए आंदोलन चला और कंपनी ने सन् १८१३ में शिक्षा के लिए १ लाख रुपया दिया। पहले संस्कृत और अरबी-फारसी की शिक्षा को प्रोत्साहन देना उनका उद्देश्य था बाद में अँगरेजी शिक्षा माध्यम बना दी गई और फारसी कचहरी की भाषा न रह गई। अँगरेजी शिक्षा के विषय में भी अधिकारियों में बड़ा मतभेद था, फिर भी उसकी शिक्षा दी गई।

इस शिक्षा का प्रभाव भारत पर चाहे जितना अच्छा पड़ा हो, फिर भी अधिकारी शुद्ध सदुद्देश्य से इसमें संलग्न नहीं हुए थे। उनकी नीति कुछ

१. "On the occasion one of the Directors stated that we had just lost America for our folly, in having allowed the establishment of schools and colleges, and it would not do for us to repeat the same act of folly in regard to India.

—Evidence of J. C. Marchman before select committee of House of Lords, quoted in EDUCATION IN INDIA UNDER E. I. C. by B. P. Basu, Page 6.

ओर ही थी और वे इसके बहाने दूसरा उद्देश्य सिद्ध करना चाहते थे। सबसे प्रधान उद्देश्य भारतीयों को शिक्षित न बनाकर कंपनी के लिए क्लर्क बनाना था। इससे प्रांतीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम नहीं बनाया गया और जो शिक्षा दी भी गई वह कोरी साहित्यिक थी, औद्योगिक नहीं जिससे देश का लाभ भी होता। अँगरेजी साहित्य में दीक्षित नवयुवक औद्योगिक शिक्षा के अभाव में केवल नौकरी ही कर सकते थे। इस प्रकार अँगरेजी शिक्षा ने लोगों को दासता की ओर ही और अधिक झुकाया।

अँगरेजी शिक्षा के द्वारा अधिकारी दासत्व को और भी दृढ़ करना चाहते थे। वे समझते थे कि हमारी शिक्षा का सबसे बड़ा प्रभाव यह होगा कि भारत ब्रिटेन से अलग न होगा और भारतीय हमको अपना गुरु मानेंगे और श्रद्धा रक्खेंगे[1]।

उनका विश्वास था कि हमारी शिक्षा का यह परिणाम होगा कि युवक भारत की स्वाधीनता के लिए हमारे विरुद्ध न खड़े होंगे, प्रत्युत शिक्षित हमारे संरक्षण में देश की उन्नति के लिए प्रयत्न करेंगे। एक प्रकार से भारतीय मस्तिष्क हमारा नेतृत्व स्वीकार कर लेगा।

शिक्षा के भीतर छिपे आर्थिक और राजनीतिक रहस्य के साथ-साथ अधिकारियों की धार्मिक भावना भी लगी थी। अँगरेजी के प्रचार के साथ-साथ ईसाई धर्म का भी प्रचार हो रहा था। अँगरेजी शिक्षा के सबसे बड़े पक्षपाती

---

१ [क] "Now my belief is, that the ultimate result of the policy of improving and educating India will be to postpone separation..."

—Trevelyan Before Members of Lords' Committee on India Territories, 1853.

[ख] The influence exercised by education in our literature and science is of course quite an opposite kind, calculated to inspire respect for us as their teachers, who bring them up to the levels of the most civilised nations of the world.

—C. H. Cameron before Lords' Committee.

मेकाले साहब का पक्का विश्वास था कि यदि मेरा शिक्षा-विधान ठीक-ठीक चलाया गया तो बंगाल में ३० साल बाद उच्च वर्ग में एक भी मूर्तिपूजक न रह जायगा[१]। सचमुच, उस समय की परिस्थिति को देखते हुए ऐसा विश्वास संभव था। उस समय अँगरेजी पढ़कर बहुत से युवक ईसाई हो रहे थे। ईसाई धर्म के प्रचार का राजनीतिक कारण भी था। ईसाई धर्म के प्रचार से भारतीय ईसाई अँगरेजों को बराबर मदद करते रहेंगे और इस प्रकार उनका शासन दृढ़ रहेगा।

ईसाई मिशनरियों की शिक्षा का भी यही उद्देश्य था। वे भारतीय विशेषतया हिंदुओं के धर्म की कटु आलोचना करते थे। स्कूल और कालेजों की स्थापना वे इसलिए करते थे कि ऐसी परिस्थिति में अपने धर्म का प्रचार कर सकें जहाँ विरोध सबसे कम हो। इसी प्रकार उनके अस्पताल भी भारतीयों की सहानुभूति प्राप्त कर उनको अपने धर्म के अनुकूल बनाने को थे।

ऐसी परिस्थिति के बीच भारत का नवयुवक शिक्षा पा रहा था। उसकी शिक्षा का उद्देश्य था कि वह क्लर्क बने। स्वतंत्रता की भावना दब जाय। अँगरेजों के सुझाए रास्ते पर चले और उनको अपना गुरु माने। उसके साथ ही वह अपनी परंपरा, संस्कृति और साहित्य से पूर्णतया अनभिज्ञ हो जाय। दूसरे शब्दों में वह अँगरेजी पढ़ा-लिखा बाबू बन जाय और साधारण जन-समाज से दूर पड़ जाय। अधिकारियों की यह नीति ही थी कि बाबुओं का एक वर्ग बने जिसका जन-समाज से संबंध छिन्न-भिन्न हो जाय। इसी से सन् १८२९-३० ई० के 'डिसपैच' (Dispatch) में शिक्षा-विधान के विषय में यह लिखा है कि थोड़े से भारतीयों को अँगरेजी साहित्य सुलभ हो किंतु शिक्षित वर्ग लेखक, अनुवादक और अध्यापक बनकर पुस्तकें लिखकर साधारण जन-समाज में अँगरेजी साहित्य के विचारों का प्रचार करें। मेह्यू (Mayhew) ने इस नीति की बड़ी कटु आलोचना की है। इस जन-समाज को वर्ग से,

---

१. It is my firm belief that if our plans of education are followed up, there will not be a single idolator among the respectable classes in Bengal thirty years hence.

—Macaulay, 1836 in a letter to his father.

शहर को गाँव से और पूर्वी विचार-धारा को पाश्चात्य विचार-धारा से अलग किया गया। इसने इस सत्य को भी छिपा दिया कि सांस्कृतिक प्रवृत्तियों के विकास के बिना और सभी वर्गों की स्थिति को ऊपर उठाये बिना शिक्षा का कोई अर्थ नहीं है[१] और सच तो यह है कि जब (सन् १८३० तक) देश गरीब हो गया था, विदेशी शासन स्थापित हो गया था। औद्योगिक धंधे नष्ट हो गए थे। लगान वसूल करने के लिए नई जमींदारियाँ कायम की गई थीं। अंगरेजों की व्यापारकि प्रतिद्वंद्विता से पुराना व्यापारी और मध्यम वर्ग छिन्न-भिन्न हो गया था। अधिकारियों की यह दूरदर्शिता थी कि तनख्वाह पाने-वाले नौकरीपेशा लोगों का निर्माण हो जो विदेशी शासन और व्यापार के आश्रित निर्भर हों। मेकाले ने यह स्पष्ट ही कहा है कि "हमको ऐसे वर्ग के निर्माण में प्रयत्नशील होना चाहिए जो हमारे और लाखों शासितों के बीच दुभाषिये का काम करे। जिसका रक्त और रंग तो भारतीय हो परंतु जिसके विचार, अभिरुचि, नैतिकता और बुद्धि अँगरेजी हों[२]।" इसमें संदेह नहीं कि अधिकारी अपने उद्देश्य में सफल हुए। शिक्षित वर्ग जन-समाज से दूर जा

---

१. "For by so doing it encouraged the separation of mass from class, town from country, western from eastern modes of thought and life to which India left to herself has always been to prove. . .It also obscured the truth that the education of the people of India means nothing, if it does not mean the development of the cultural instincts and the raising of the material level of all classes of those peoples."...Mayhew, Page 108.

२. "We must at present do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern, a class of persons Indian in blood and colour but English in tastes, opinions, morals and intellect."

—MODERN INDIAN CULTURE by D. P. Mukherji, page 109.

पड़ा[१]। पश्चिमी रंग-ढंग का असर उसपर भरपूर पड़ा। शिक्षा ने उसकी रहन-सहन और विचारों को बदल दिया। वह अँगरेजी साहित्य में पारंगत था किंतु देश के साहित्य से कोरा। वह मातृभाषा से राजभाषा को अधिक सुगमतापूर्वक बोल सकता था।

इस प्रकार सभी प्रकार की हीनता उन्नीसवीं शती की विशेषता बन गई थी। भारतीय स्वतंत्रता और व्यापार का लोप ही देश की दुर्दशा के लिए पर्याप्त है। फिर भी इससे उद्धार संभव है। लेकिन इससे अधिक चिंतनीय उन्नसवीं शती की मानसिक दासता थी। यह कहा जा चुका है कि अँगरेजी शिक्षा प्राप्त नवयुवक अपने धर्म और साहित्य से कोरे थे। इतना ही नहीं, उनके ईसाई शिक्षकों ने यह भी समझा दिया था कि तुम्हारा धर्म बर्बर है। ईसाइयों के प्रचार से जहाँ सामाजिक विषमता उत्पन्न हुई वहाँ भारतीयों की सांस्कृतिक दासता भी बढ़ी और पश्चिमी रंग भी गहरा हुआ। रोम्याँ रोलाँ के शब्दों में पश्चिमी सभ्यता वेग से बढ़ रही थी और उसका सत्पक्ष नहीं दिखाई पड़ रहा था। इसने केवल क्रीड़ाशील मस्तिष्क को जन्म दिया जिसने विचारों की स्वतन्त्रता को दबा दिया और युवकों को उनके उचित वातावरण से हटाकर अपनी जातीय प्रतिभा को घृणा की दृष्टि से देखना सिखाया। स्वामी दयानंद की पीढ़ी ने एक ओर तो भारत के शरीर में योरोपीय बौद्धिकता (Rationalism) के क्रमशः प्रवेश को देखा जिसका औद्धत्य भारतीय भावना को न समझ सका, और दूसरी ओर ईसाइयत को देखा, जिसने परिवार में प्रवेश कर ईसा मसीह के इस कथन को पूर्णतया चरितार्थ किया कि मैं पिता और पुत्र में विभेद करने आया हूँ[२]। पिता और पुत्र में

१. "In fact we created a separate caste of English scholars who had no longer any sympathy or very little sympathy with their countrymen."

—Wilson before select committee of House of Lords.

२. Westernisation was going too far, and was not revealed by its best side. Intellectually it had rather become a frivolous attitude of mind, which did away with the need for independ-

केवल ईसाई धर्म के प्रचार ने ही भेद नहीं उत्पन्न किया, प्रत्युत अँगरेजी शिक्षा ने भी। भौतिक क्षेत्र में अँगरेजों की बातें आँख मूँदकर मानने की आदत के कारण हिंदू धर्म के संबंध में भी उनके निर्णय उन्हें शिरोधार्य थे। वे अपने समाज को दूसरों की आँखों से देखने लगे थे। इतना ही नहीं, बंगाल के शिक्षाप्राप्त हिंदुओं के बीच थोड़े ही साल पहले हिंदुत्व प्रशंसा का नहीं प्रत्युत कटु आलोचना का विषय था[१]। यह आलोचना यदि स्वतंत्र विचारों पर आश्रित होती तो समाज सदा के समान इस समय भी इसका स्वागत करता, किंतु बात दूसरी थी। यह आलोचना मानसिक दासता की द्योतक थी। शिक्षित वर्ग इसलिए आलोचना करता था कि अँगरेज ऐसा कर रहे थे। अँगरेजों का निर्णय ही सत्य और असत्य की कसौटी बन गया था। सब बातों में वे मान्य थे और उनका अनुकरण ही सच्चा और ठीक मार्ग था। शिक्षित वर्ग का यह अंधानुकरण या मानसिक दासता पतन की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। स्वर्गीय लाला लाजपतराय के शब्दों में "प्रत्येक भारतीय वस्तु उनकी नजरों में घृणित थी। यदि उनके अँगरेज

---

ence of thought and transplanted young intelligences from their proper environment, teaching them to despise the genius of their race ...Dayanand's generation had watched...the gradual infiltration into the veins of India of superficial European rationalism on the one hand, whose ironic arrogance understood nothing of the depths of the Indian spirit, and on the other hand of a christianity, which when it entered family life fulfilled only too well Christ's prophecy that 'he had come to bring division between father and son.'

—LIFE OF RAMA KRISHNA by Roman Rolland.

१. Not many years ego, Hinduism was a topic not of commendation, but of condemnation against the educated class in Bengal.

—HINDU CIVILISATION UNDER BRITISH RULE by P. N. Bose, Vol. 1, Page 93.

साहब चर्च को जाते थे तो वे भी वैसा ही करते थे। यदि उनके साहब स्वतंत्र विचार रखते थे तो वे भी वैसा ही करते थे। उन्होंने उनकी वेषभूषा को अपनाया। उनके धूम्रपान को अपनाया। उनके मदिरा-सेवन और मांस-भक्षण को भी[1]।"

इस प्रकार युवक वर्ग ने अपने को भारतीय समाज और परंपरा से अलग कर हँसते हुए योरोप की सांस्कृतिक दासता की बेड़ी पहन ली। भारतीय समाज के सामने बड़ी विषम समस्या उपस्थित थी। वह देख रहा था कि समाज का भविष्य जिन युवकों के हाथ में है वे मिशनरियों के प्रचार और अगरेजी की शिक्षा-दीक्षा के कारण अपने समाज के विरोधी बने जा रहे हैं। समाज की स्थिति, रक्षा और दृढ़ता के लिए ऐसे विचक्षण और उदारहृदय नेता की आवश्यकता थी जो सामयिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर आवश्यक सुधार करता हुआ समाज के अंगों को छिन्न-भिन्न होने से बचा ले। समय और परिस्थिति ने राजा राममोहन राय के रूप में भारतीय समाज को ऐसा नेता अर्पित किया जिसके चलाए ब्रह्मसमाज के प्रभाव से अँगरेजियत की आँधी थोड़ी देर के लिए धीमी पड़ गई।

राजा राममोहन राय कई भाषाओंके ज्ञाता थे। हिंदू, मुसलमान और ईसाई धर्म का उनका अध्ययन अत्यन्त विस्तृत और गंभीर था और वे धर्म के मूल तत्त्वों से पूर्ण अवगत थे। देश की परिवर्तित परिस्थिति का उनको ठीक-ठीक ज्ञान था। वे सारग्राही प्रवृत्ति के होते हुए भी अंधानुकरण के पक्ष में न थे। नवीन ज्ञान का अर्जन चाहते हुए भी उनमें विचारों की स्वतन्त्रता थी। वे अँगरेजी शिक्षा के पक्ष में थे। सन् १८३० में जब अलेकजेंडर डफ ने अँगरेजी स्कूल खोलने का निश्चय किया तब राजा राममोहन राय ने उनको कमरे दिलाए और कुछ विद्यार्थी भी ला दिए। इसके साथ उन्होंने यह भी देखा कि स्कूल खुलते ही नवयुवक हिंदू धर्म छोड़कर ईसाई धर्म में जाने लगे

---

१. Everything indian was odious in their eyes. If their English masters went to church, they did the same. If their English masters indulged in free thinking, they did the same- They looked to their dress, their drinks, their beef.

—YOUNG INDIA by Lajpat Rai, Page 120.

और डफ तथा ईसाइयत की हिंदू जाति के बीच बड़े जोरों की चर्चा होने लगी। इसके साथ-साथ उन्होंने यह भी जान लिया था कि बंगाल में अँगरेजी शिक्षा का पहला परिणाम यह हुआ कि वर्णव्यवस्था और वंशानुगत पुरोहिती के विरुद्ध उग्र भावना का जन्म हुआ[१]।

वे यह भी जानते थे कि जो हिंदू धर्म छोड़ कर ईसाई बनते थे वे यह समझते थे कि हिंदू धर्म मूर्तिपूजक तथा अत्यंत संकीर्ण है और ईसाई धर्म में उदार भ्रातृभावना मिलती है। शासकों के धर्म में मूर्तिपूजा और वर्णभेद अच्छा नहीं माना जाता था। इससे मूर्तिपूजा और वर्णव्यवस्था पर जले-कटे शब्द कहना फैशन-सा हो गया। शासक भ्रातृत्व की भावना पर जोर देते थे। मिशनरियों के प्रचार में पले, अपने धार्मिक साहित्य से अनभिज्ञ, अँगरेजी शिक्षा प्राप्त अधकच्चे युवकों ने यही मान लिया था कि हिंदू धर्म में भ्रातृत्व जैसी उदार भावना का सर्वथा लोप है और इसी से ईसाई धर्म को अंगीकार करते समय वे यही समझते थे कि हम अंधकार से प्रकाश और संकीर्णता से उदारता की ओर प्रस्थान कर रहे हैं।

राजा राममोहन राय के ब्रह्मसमाज में फैशन की सभी भावनाएँ मिलती थीं। उसमें मूर्तिपूजा नहीं थी। हिंदू पुरोहिती का स्वरूप नहीं था और अत्यधिक उदारता थी। ब्रह्मसमाज सब का स्वागत करता था और ऐसी उपासना-पद्धति पर जोर देता था जो विभिन्न धर्मावलंबियों के बीच एकता के सूत्र को दृढ़ करे। ब्रह्मसमाज के सहारे हिन्दू-समाज बहुत बड़े संकट से बच सका। इसके प्रभाव से एक ओर तो समाज की कुरीतियों के निवारण का

---

१ (क) The first effect of English education at least in Bengal was to create a revulsion of feeling against thraldom of caste and domination of hereditary priesthood.

—HINDU CIVILISATION by P. N. Bose, Vol. 1, Page 85.

(ख) About the middle of the present century (i. e. 19th.) a good number of high caste and etucated Hindus embraced Christianity. Ibid. Page 57.

प्रयत्न हुआ और दूसरी ओर युवक दूसरे धर्म में जाने से रोक लिए गए। ब्रह्मसमाज ने सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साथ-साथ यह भी बताया कि हिंदू धर्म न तो बर्बर है और न संकीर्ण। युवकों में अपनी हीनता की भावना का वेग कुछ कम हुआ। राजा राममोहन राय का ब्रह्मसमाज आध्यात्मिक क्षेत्र में पश्चिम के सामने भारतीय महत्ता की घोषणा थी। हिंदू समाज का इससे महान् उपकार हुआ और अँगरेजियत की आँधी का वेग कुछ कम हुआ।

स्मरण रहे कि केवल आँधी का वेग कुछ कम हुआ, आँधी रुक नहीं गई क्योंकि राजा राममोहन राय के बाद समाज का संचालन जिन महान् व्यक्तियों के हाथ में आया उनपर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव अधिकाधिक पड़ता गया। राजा राममोहन राय ने वेद और उपनिषद् की उदारता का आश्रय लिया था। इनके बाद महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर ने यद्यपि भारतीय आस्तिक्यवाद (Hindu theism) की महत्ता स्वीकार की, फिर भी उन्होंने वेदों की अपौरुषेयता (Infalliblity) को स्वीकार नहीं किया। अब इसे चाहे समझौता कहा जाय, चाहे विश्वास की हीनता। केशवचंद्र सेन का समाज-संचालन मानों अपने धर्म की हीनता और ईसाई धर्म की महत्ता का स्वीकार था। ईसाई धर्म का उनपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था और वे उसमें बहुत ज्यादा रँग गए थे। ईसा की भाँति वे अपने को मसीहा मानने लगे थे। ईसाइयत की ओर अधिक झुकने के कारण लोग ब्रह्मसमाज को ईसा के बिना ईसाइयत की उपाधि देने लगे थे। स्वयं केशवचंद्र सेन ने ब्रह्मसमाज को ईसाई धर्म की (हिंदू धर्म के विवाह से उत्पन्न) संतान बताया था[1]। इस प्रकार ब्रह्मसमाज ईसाइयत के रंग में दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक रँगता गया और उसका प्रभाव कम होता गया। हिंदू समाज की रक्षा में वह अधिक दिनों तक समर्थ न रहा। कुछ लोगों का तो यह मत है

---

१. By best known of the Brahmo Community, the late Keshab Chunder Sen, it was described as the legitimate offspring of the wedlock of Christianity with the faith of Hindu Aryan.
—NEW IDEAS IN INDIA by Rev. J. Morison, Page 125.

कि केशवचंद्र सेन का प्रयत्न यह था कि वे धीरे-धीरे देशवासियों को ईसा के मत में ले जायँ। उनके सबसे बड़े सहायक मिस्टर मजूमदार का यह कहना है कि मैंने और केशवचंद्र सेन ने अपने इस मत को इसलिए नहीं प्रकट किया कि एकदम से अपने विश्वास की घोषणा करने की अपेक्षा धीरे-धीरे देशवासियों को ईसा में विश्वास कराने में हम अधिक कृतकार्य होंगे[1]।

इस प्रकार यद्यपि ब्रह्मसमाज का पर्याप्त प्रभाव पड़ रहा था, फिर भी उसमें व्यापकता न थी। बंगाल के बाहर भी इसकी स्थापना हुई। केशवचंद्र सेन के उद्योग से मद्रास में 'वेदसमाज' और बम्बई में 'प्रार्थना समाज' बना। यद्यपि इन संस्थाओं से समाज-सुधार की भावना प्रबल हुई और देश का कल्याण हुआ, फिर भी यह कहना पड़ेगा कि इनकी आवाज समग्र देशवासियों तक न पहुँची। वास्तव में अँगरेजी शिक्षित मध्यम वर्ग के वातावरण और आवश्यकताओं ने ब्रह्मसमाज को जन्म दिया और यह प्रारंभ से अंत तक मध्यम वर्ग और पढ़े-लिखे लोगों के बीच ही सीमित रहा। इस प्रकार ब्रह्म-समाज केवल पाश्चात्य शिक्षा और प्रभाव का मापदण्ड ही बन सका।

एक बात और, यद्यपि अँगरेजी शिक्षा से सुधार और नई विचारधारा का प्रवाह शुरू हो गया था, फिर भी प्राचीनता के पक्षपाती कम न थे और न उनका प्रभाव नगण्य था। बंगाल में जिस प्रकार राजा राममोहन राय नवी-नता का सूत्रपात करना चाहते थे, उसी प्रकार राधाकांत देव उनका विरोध कर प्राचीनता की प्रतिष्ठा बनाए रखना चाहते थे। इस प्रकार दो दलों का संघर्ष चल रहा था, जिसकी अंतिम झलक सन् '५७ की क्रांति में मिली।

---

१. Mr. Mazoomdar assured him that his own faith and Keshab's also was precisely the same and said that the reason why he and Keshab did not give public expression to these beliefs was that they held, they would be more likely to bring their fellow countrymen to fall faith in Christ by a sudden declaration of all they believed.

—Modern Religious Movements of INDIA by J. Farquhar, Page 67.

सन् '५७ की क्रांति जिस प्रकार अँगरेजी शासन का उन्मूलन करना चाहती थी उसी प्रकार नवीन और प्राचीन विचारधाराओं के द्वंद्व की रंगभूमि भी थी। क्रांति के बाद अँगरेजी शासन के दृढ़तर होने के साथ ही पाश्चात्य विचार-धारा भी वेग से चलने लगी।

इस क्रांति का हिंदी-साहित्य पर उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। हिंदी-साहित्य का आधुनिक काल भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र से शुरू होता है, जिनका समय १९वीं शती का उत्तरार्ध है। हरिश्चंद्र यद्यपि नवीनता के पक्षपाती थे, फिर भी पाश्चात्य संस्कृति में सर्वथा रँगे नहीं। जैसा कि कहा जा चुका है, ब्रह्मसमाज अँगरेजी शिक्षित नवयुवकों के बीच ही सीमित रहा। इससे हिंदी पर ब्रह्मसमाज का भी प्रत्यक्ष कोई प्रभाव नहीं है। हिंदी-साहित्य पर जिस संस्था का प्रत्यक्ष सबसे अधिक और व्यापक प्रभाव पड़ा वह है आर्यसमाज। इसका वर्णन दूसरे अध्याय में अधिक उपयुक्त होगा।

उन्नीसवीं शती

(उत्तरार्ध)

उन्नीसवीं शती का उत्तरार्ध, पूर्वार्ध की अपेक्षा अधिक समृद्ध और संघर्षपूर्ण है। सन् '५७ की क्रांति के बाद सामाजिक तथा राजनीतिक धाराएँ प्रबल वेग से प्रवाहित होने लगीं। सामाजिक क्षेत्र में ब्रह्मसमाज के अतिरिक्त सुधार की भावनाओं से अनुप्राणित कई संस्थाओं का जन्म हुआ, जिनके द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है और जिनका देश के जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रत्येक जाति के बीच समाज-सुधार की लहर दौड़ गई। मुसलमानों में सैयद अहमद ने सुधार का बीड़ा उठाया। सन् १८६९ में इंगलैंड से लौटने के बाद उन्होंने उर्दू में 'तहजीबुल अखलाक' पत्रिका निकाली जिसमें धार्मिक, सामाजिक और शैक्षिक विषयों पर वे बड़े जोरदार और साहसपूर्ण शब्दों में लिखते थे। सन् १८८५ में 'अंजुमन ए हिमायत ए इसलाम' की लाहौर में स्थापना हुई जिसका उद्देश्य इसलाम के विरुद्ध आक्षेपों का उत्तर देना और बालक-बालिकाओं के लिए उचित शिक्षा का प्रबंध था, जिससे वे अपने धर्म से विमुख न हों। सन् १८९४ में 'नदवतुल इसलाम' की स्थापना हुई जिसका एक उद्देश्य समाज-सुधार भी था। पारसी-समाज में भी इसी समय सुधार की भावना जगी जिसका बहुत कुछ श्रेय बी० एम० मलाबारी और दयाराम गिड्मल को है। मद्रास में 'वेदसमाज', बम्बई में 'प्रार्थनासमाज' और पंजाब में 'देवसमाज' की स्थापना हुई। सन् १८७५ में स्वामी दयानंद ने बंबई में आर्यसमाज की स्थापना की और इसी वर्ष नवंबर में न्यूयार्क में 'थियोसाफिकल सोसायटी' की स्थापना हुई।

इन समाजों के संबंध में यह कहना पड़ता है कि ये देश की सामान्य जीवन-धारा में घुल-मिल न सके और इनकी सत्ता पृथक् ही रही। यद्यपि इन समाजों के द्वारा सुधार और शिक्षा-प्रसार का महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है, फिर भी इनका क्षेत्र कतिपय पढ़े-लिखे समुदायों तक ही सीमित रहा। इनमें से अधिकांश का

स्वरूप विरोधात्मक ही रहा जिससे वे धर्म के सच्चे रूप और सामाजिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों के महत्त्व को न समझ सके, फिर भी इनके द्वारा सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि पश्चिम की सांस्कृतिक आँधी से सारा समाज आक्रांत होने से बच गया।

इन संस्थाओं के द्वारा देश की सामाजिक चेतना और भी उद्दीप्त हुई। सुधार और शिक्षा-प्रसार इनका उद्देश्य था। 'प्रार्थनासमाज' और 'वेद-समाज' के उद्देश्य साधारण तथा ब्रह्मसमाज से मिलते-जुलते थे। वर्ण-भेद का त्याग, स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह का प्रचलन और बाल-विवाह का उन्मूलन, इनके मुख्य ध्येय थे। इसी प्रकार 'देवसमाज' नास्तिक संस्था होते हुए भी पंजाब में शिक्षा-प्रसार का कार्य कर रही थी। 'थियोसाफिकल सोसायटी' भी शिक्षा-प्रचार के काम में लगी थी और हिन्दू धर्म को पढ़े-लिखे लोगों के सामने बड़े रोचक रूप में रख रही थी।

सुधार और शिक्षा के साथ-साथ इन संस्थाओं के द्वारा अप्रकट रूप से जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा था वह सांस्कृतिक था। इन संस्थाओं के अनवरत परिश्रम से देश पश्चिम की सांस्कृतिक आँधी से पूर्णतया आक्रांत होने से बच गया। शिक्षा-प्रसार के कारण अंधानुकरण और अपने समाज को नितांत हेय और दूषित समझने की प्रवृत्ति हटने लगी। अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों में (जो विदेशी रंग में सबसे ज्यादा रँग गए थे) थियोसाफिकल सोसायटी ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया। प्राचीन हिंदूधर्म और संस्कृति के मुख्य तत्त्वों और विशेषताओं के गौरवमय स्वरूप को सामने रखकर इस संस्था ने अँगरेजियत का दम भरनेवालों को अपने समाज के सत्स्वरूप को देखने और सोचने को बाध्य किया। इसका परिणाम यह हुआ कि अपने देश और अपनी संस्कृति के प्रति अनुराग और गर्व जागा और धीरे-धीरे पाश्चात्य सभ्यता को सर्वोत्तम समझने की प्रवृत्ति हटने लगी। मिसेज बेसेंट का यह कथन पूर्णतया सत्य है कि आर्यसमाज तथा थियोसाफिकल सोसायटी के प्रसार से गोरी जाति की उच्चता का विश्वास रसातल को चला गया[१]।

---

१. The undermining of the belief in the superiority of the

जैसा कहा जा चुका है, इन संस्थाओं के महत्त्वपूर्ण कार्य को स्वीकार करते हुए भी यह कहना पड़ता है कि ये देश की सामान्य जीवनधारा में घुल-मिल न सकीं और इनकी सत्ता पृथक् ही बनी रही। इनका स्वरूप अधिकांश में विरोधात्मक ही रहा जिससे हिंदू धर्म के सच्चे रूप और सामाजिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों के महत्त्व को वे न समझ सकीं। इस कारण इनका क्षेत्र सीमित ही रहा और इसका व्यापक प्रभाव न पड़ सका। इनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति इनकी दुर्बलता का दूसरा कारण थी। सब धर्मों के शुभ तत्त्वों को लेकर हम कतिपय विद्वानों के लिए चाहे पूर्ण और उत्कृष्ट धर्म बना लें, किंतु उसकी जड़ जनता के हृदय में नहीं जमा सकते। सारग्राही समाज में बौद्धिक अंशों की प्रबलता होने पर भी उसमें मुख्य तत्त्व भावावेश की कमी होती है जो जाति की परंपरा और आदर्शों का आधार लेकर उसकी संस्कृति को विकसित करता है। समाज की परंपरा, रहन-सहन, आचार-विचार से उनका मूल सम्बन्ध न रहने के कारण उसकी लोकप्रियता कतिपय पढ़े-लिखों तक सीमित रहती है और कुछ दिन बाद लुप्त हो जाती है। यही दशा ब्रह्म-समाज, प्रार्थना-समाज, वेद-समाज आदि संस्थाओं की हुई। केवल स्वामी दयानंद का आर्यसमाज इसका अपवाद बन सका। उसकी कल्पना तथा आधार पूर्णतया भारतीय था। इसी से उसका अत्यंत व्यापक प्रभाव पड़ा। उसका कार्यक्षेत्र अँगरेजी पढ़े-लिखों तक सीमित न रहकर जन-साधारण में प्रसरित था।

आर्यसमाज का कार्यक्षेत्र बहुमुखी था। यद्यपि उसका स्वरूप प्रधानतया धार्मिक और सामाजिक था, फिर भी उसके प्रभाव से शिक्षा, राजनीति आदि अछूते न बच सके। इसका कारण था, स्वामी दयानंद की दृष्टि एकांगी न होकर अत्यंत व्यापक और उदार थी। उनका उद्देश्य हिंदू जाति का उद्धार और उत्कर्ष था जिनमें कारण-कार्यरूप में धर्म, समाज, शिक्षा, संस्कृति, राजनीति, अर्थनीति आदि सभी का आ जाना अनिवार्य सा था। स्वामीजी

---

white race is to be spreading of Aryasamaj and Theosophical Society.

—RENASCENT INDIA by H. C. E. Z. Acharia, Page 49.

का ध्यान सब ओर गया जिसके फलस्वरूप आर्यसमाज सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक जागरण का देवदूत बन गया। आर्यसमाज के ध्येय महान् थे। शारीरिक, सामाजिक और आध्यात्मिक दशा का सुधार कर समग्र विश्व को लाभ पहुँचाना आर्यसमाज का प्रथम उद्देश्य है। मनुष्य मनुष्य के बीच उचित न्याय, स्त्री-पुरुष की समानता, जन्मजात अधिकार के स्थान पर कर्म और योग्यता की कसौटी, अपनी उन्नति के लिए सबको उपयुक्त अवसरों की प्राप्ति आदि उच्च उद्देश्य स्वामी जी की उदारता के परिचायक हैं।

उन्नीसवीं शती के चतुर्थ चरण में जब स्वामी दयानन्द आर्यों की उन्नति का उद्देश्य लेकर कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण हुए उस समय की स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी। देशवासी विभक्त, दुर्बल और अपनी उत्तम भाषा और उच्च साहित्य से अनभिज्ञ थे। वे विदेशियों के आक्रमण से अपनी कला और विज्ञान, संस्कृति और धर्म की रक्षा करने में असमर्थ थे। हिंदुओं को दो सशक्त धर्मों का सामना करना पड़ रहा था जो अत्यन्त प्रबल थे और हिंदुओं को अपनी ओर खींचकर अपनी संख्या बढ़ा रहे थे। इसलाम नीची श्रेणी के हिंदुओं को अपने में मिला रहा था और पढ़े-लिखे लोग ईसाइयत स्वीकार कर रहे थे। उन्नीसवीं शती के धार्मिक ह्रास के विषय में रोम्याँ रोलाँ का कहना कितना सत्य है—"जिस समय दयानंद के मानस का विकास हो रहा था भारत की उच्च धार्मिक आत्मा इतनी दुर्बल हो गई थी कि योरप की धार्मिक प्रवृत्ति उसकी मंद ज्योति को बुझाने ही वाली थी, यद्यपि उसका स्थानापन्न नहीं दे सकती थी[1]।"

विज्ञान का वातावरण—जो ब्रिटिश सरकार की देन था—प्राचीन आचार-

---

१. It is a historical fact that when Dayanand's mind was in process of being formed, the highest religious spirit of India had been so weakened that the religious spirit of Europe threatened to extinguish its feeble flame without the satisfaction of substituting its own.

LIFE OF RAM KRISHNA by Rolland.

विचार और परंपरा की जड़ हिला रहा था। समय की यह माँग थी कि इस वातावरण का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय और प्राचीन तथा नवीन और पूर्व तथा पश्चिम में सामंजस्य स्थापित हो जिससे भारत की नवीन स्थिति के अनुकूल बौद्धिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नैतिक उन्नति हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दयानंद को कई प्रकार के विरोधों का सामना करना पड़ रहा था। एक ओर तो हिंदूधर्म और समाज की रूढ़ि, अंधविश्वास, आचार-विचार और अपरिवर्तनशीलता की प्रवृत्ति थी जिसका मुख्य आधार वर्ण-भेद और नियतिवाद तथा जन्मजात अधिकार का सिद्धांत था। दूसरी ओर नवीन विजयिनी सभ्यता का दम भरनेवाली ईसाइयत थी जिसे अतुल धन-जन और राजनीतिक सत्ता का आश्रय प्राप्त था। ईसाई मिशनरी एक ओर हिंदू धर्म और संस्कृति पर कुत्सित आक्षेप कर रहे थे और दूसरी ओर अपने बड़प्पन का राग अलाप रहे थे। विज्ञान की विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति जब ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार कर रही थी तो उसे वेद की अपौरुषेयता और धर्म कब मान्य हो सकते थे। ईश्वर के स्थान पर ऐहिकता और भौतिकता की प्रतिष्ठा हो रही थी। इन सबके कारण हिंदुओं का धर्म, जीवन और दर्शन अस्त-व्यस्त हो रहा था और निराशा तथा किंकर्तव्यविमूढ़ता का वातावरण गहरा होता जाता था। स्वामी दयानंद को इन सबसे लड़ना था।

स्वामी दयानंद की सबसे पहली लड़ाई सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध थी क्योंकि उनका दृढ़ मत था कि देश की अधोगति और विदेशी शासन का मुख्य कारण सामाजिक अधःपतन है। इसी से उन्होंने धर्म और समाज की उन मूलभूत भावनाओं पर आक्रमण किया जो अंधविश्वास और रूढ़ि-पालन की नींव में थीं। सबसे पहले उन्होंने ब्राह्मणों के अधिकारों का विरोध किया। उनके मत में केवल विद्वान् ब्राह्मण ही पूज्य था। केवल ब्राह्मण-वंश में जन्म लेना पूजा के लिये पर्याप्त न था। वर्णव्यवस्था का आधार जन्म न होकर कर्म होना चाहिए। अपनी योग्यता वा अयोग्यता के अनुसार एक व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र हो सकता है। इस प्रकार जन्म के स्थान पर कर्म का सिद्धांत मानकर उन्होंने वर्ण-भेद का विरोध किया। मूर्त्ति-पूजा का

विरोध उनके समाज की दूसरी मुख्य विशेषता थी। प्रतिमा-पूजन के विरोध के साथ-साथ अनेक देवी-देवताओं की अर्चना साधु न बताकर केवल एक की उपासना का स्वामी जी ने उपदेश दिया। एक ईश्वर की प्रतिष्ठा द्वारा अनेक मत-मतांतरों के झगड़ों को मिटाने का प्रयास किया और एकता के बीज का वपन किया। इन धार्मिक सुधारों के साथ-साथ स्वामी जी की दृष्टि समाज में प्रचलित कुरीतियों की ओर भी गई। विधवा-विवाह का समर्थन, बाल-विवाह का विरोध, अछूतोद्धार आदि उनके 'समाज' की मुख्य बातें थीं। सार्व-जनिक सेवाओं के लिए आश्रमों की स्थापना भी समाज के द्वारा हुई। अनाथालय, विधवाश्रम खोलने के साथ-साथ बाढ़, दुर्भिक्ष आदि के समय सहायता के लिए समिति की योजना करनेवाली यह प्रथम भारतीय संस्था थी। इसके पहले ईसाई मिशनरी अपने दलों को भेजकर पीड़ितों को अपने धर्म का अनुयायी बना लेते थे। समाज ने इस प्रकार हिंदुओं की रक्षा की।

इन विचारों का फलीभूत होना शिक्षा के अधीन था। इसी से स्वामी जी सबको शिक्षा पाने का समान अधिकारी समझते थे, फिर भी जातीयता का ह्रास करनेवाली तत्कालीन अँगरेजी शिक्षा का प्रचार उनका ध्येय न था। उनकी इच्छा थी कि सभी वेद का अध्ययन करें, क्योंकि वेद विश्व की सबसे प्राचीन पुस्तक है। उनका विश्वास था कि वेद में सारे संसार का प्राचीन तथा नवीन ज्ञान-विज्ञान संचित है और वेदानुकूल वैयक्तिक आचरण तथा धर्म और समाज का संचालन होने से भारत का कल्याण होगा। गुरुकुल की स्थापना में यही उनका उद्देश्य था। इसी दृष्टि से वे संस्कृत और हिंदी की शिक्षा पर जोर देते थे। उनकी दृष्टि में वेदाध्ययन का अधिकार सबको प्राप्त था। वेद को सर्वसुलभ बनाने के लिए उन्होंने परंपरा-प्राप्त टीकाओं को छोड़कर हिंदी में वेदों की बौद्धिक व्याख्या की। यह बड़े महत्त्व का काम हुआ। स्वामी जी की टीकाओं से चाहे कोई सहमत हो या न हो, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि विद्या के जिस भांडार की कुंजी अभी तक परिमित द्विजों के हाथ में थी वह हिंदी भाषा में अनुवादित होने के कारण सर्व-साधारण को सुलभ हो गई। इससे वेद तथा संस्कृत-साहित्य के अध्ययन की रुचि बढ़ी।

लोगों को वैदिक समाज और संस्कृति का ज्ञान हुआ और आर्य-साहित्य की उच्च और उदार भावनाओं का परिचय मिला। लोग वैदिक युग को विश्व-संस्कृति का सर्वोच्च शिखर मानने लगे और इस प्रकार देश के अतीत के प्रति लोगों को गर्व का अनुभव हुआ। वेदाध्ययन और देशभाषा के अनिवार्य होने से इस बात की भी आशा हुई कि अँगरेजी पढ़े-लिखे और जनसाधारण के बीच बढ़ती हुई खाई कम होकर लुप्त हो जायगी और पार्थक्य दूर हो जायगा।

आर्यसमाज की ऐसी शिक्षा-नीति का देश पर गंभीर प्रभाव पड़ा और अप्रकट रूप से देशभक्ति का पोषण हुआ। स्वामीजी की उत्कट अभिलाषा थी कि भारत अन्य देशों के बीच आदर का स्थान प्राप्त करे और फिर से विश्व का शिक्षक बने और उच्च तथा उदार आदर्शों का प्रचारक हो। ऐसे महान् उद्देश्य की सिद्धि केवल पश्चिम के अंधानुकरण और अपने पूर्वजों को घृणा की दृष्टि से देखने से संभव न थी। इसी से स्वामी जी आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता की नींव पर इस भव्य प्रासाद को खड़ा करना चाहते थे।

वेद के आधार पर जिस देशभक्ति और राष्ट्रीयता का संचार हुआ उसमें भारत के विविध समुदायों में एकीकरण की शक्ति थी। भारतीय संस्कृति के उन उच्चतम निदर्शनों के प्रति लोगों का ध्यान आकर्षित किया गया जिनके स्मरणमात्र से प्रत्येक समुदाय गर्व का अनुभव कर सकता था। राम और कृष्ण के चरित्र और आदर्श से किस भारतीय को संकोच होगा। इस प्रकार वेद के आधार से जो देशभक्ति निःसृत हुई उसमें उच्चता, प्रेरणा, एकता, सांत्वना और उल्लास तथा उत्साह भरने की शक्ति थी। यह देशभक्ति केवल अतीत के प्रति अनुराग और गर्व जगाने मात्र से पुष्ट नहीं हुई, प्रत्युत अहिंदुओं के हृदय में भारत के प्रति श्रद्धा जगाकर इसे और भी बढ़ावा दिया गया। अहिंदू भारतीयों के हृदय में ऐसे भारत के प्रति श्रद्धा जगाई गई जो विश्व के सर्वोच्च दर्शन और प्रथम विश्व-संस्कृति का जन्मस्थान है।

इस प्रकार स्वामी जी ने भारतीयों के हृदय में देश के अतीत के प्रति गर्व जगाकर लोगों में आत्म-संमान की भावना जगाई। आत्मप्रतिष्ठा की भावना

से भरे हुए भारतीय अब विश्व में आदरपूर्ण स्थान प्राप्त करने के इच्छुक हुए, किंतु इस इच्छा का तत्कालीन परिस्थिति में पूर्ण होना संभव न था। स्वामी जी की विचक्षण दृष्टि ने इसे जान लिया था और इसी से राजभक्ति के उस जमाने में उन्होंने विदेशी शासन के दोषों का साहसपूर्ण शब्दों में उद्घाटन किया था। विदेशी शासन की अनुपयुक्तता के विषय में स्वामी जी के कतिपय शब्दों का उद्धरण अप्रासंगिक न होगा—"कोई कितना ही करे परंतु जो स्वदेशीय राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है......मत-मतांतर के आग्रह-रहित पक्षपात शून्य प्रजा पर पिता-माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य पूर्ण सुखदायक नहीं है।"[1]

इस प्रकार आर्यसमाज के द्वारा राजनीतिक क्षेत्र में भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीयता के प्रथम संचरण का श्रेय स्वामी दयानंद के आर्यसमाज को है। 'समाज' के प्रभाव-स्वरूप जिस राष्ट्रीयता का जन्म हुआ उसमें अतीत के प्रति अनुराग और आदरपूर्ण स्थान प्राप्त करने का आग्रह मुख्य था। विदेशी शासन और तत्कालीन परिस्थिति ने उसमें अभाव और असंतोष को जोड़ दिया। स्वामी दयानंद की शिक्षा ने ऐसी आलोचनात्मक प्रवृत्ति को जन्म दिया जो बिना सोचे-विचारे न तो सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार करने को तैयार थी और न जिसे मनमानी राजनीतिक दासता ही मान्य थी। इसी से आगे चलकर 'समाज' का शासन के अधिकारियों से विरोध हुआ और उन्होंने इसके विरुद्ध प्रचार किया। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय जागरूकता और राजनीतिक चेतना के विकास और प्रसार में आर्यसमाज का महत्त्वपूर्ण हाथ है।

राजनीति के समान देश की आर्थिक अवस्था भी स्वामी जी से छिपी न थी। स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग का उनका आग्रह था। वे समझते थे कि सभी पढ़े-लिखे नौकरी नहीं पा सकते। इसी से बेकारी की समस्या हल करने के लिए वे कला-कौशल के स्कूल का खुलना आवश्यक समझते थे। वे यह भी चाहते थे कि इस विषय की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए लोग विदेश

---

१. 'सत्यार्थप्रकाश', अष्टम समुल्लास, पृष्ठ २३८

भी भेजे जायँ। इस सम्बन्ध में स्वामी जी के एक पत्र का आंशिक उदाहरण ही समुचित होगा—

"यह स्पष्ट है कि बहुत से पढ़े-लिखे लोगों को भी नौकरी नहीं मिलती या वे जीवन-निर्वाह का प्रबंध नहीं कर सकते। ऐसी अवस्था देखकर मैं एक कला-कौशल के स्कूल की आवश्यकता विचारता हूं। प्रत्येक पुरुष को अपनी आय का सौवाँ भाग प्रस्तावित संस्था को दे देना चाहिए, उस धन से चाहे तो विद्यार्थी कला-कौशल सीखने जर्मनी भेजे जायँ या वहाँ से अध्यापक यहाँ बुलाए जायँ।"[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्यसमाज का सभी क्षेत्रों में व्यापक प्रभाव पड़ा। देश की सर्वतोमुखी जागर्ति में इसका बहुत हाथ है। इसके फलस्वरूप जो सांस्कृतिक जागरण हुआ वह तो स्पष्ट ही है। अंधानुकरण की प्रवृत्ति का त्याग, स्वदेश के प्रति अनुराग, आत्मसंमान तथा आत्मनिर्भरता की भावना के विषय में कहा जा चुका है। राजनीतिक चेतना के प्रसार के साथ-साथ हिन्दुओं में जातीयता की लहर भी इसी कारण दौड़ गई। हिन्दू दर्शन, संस्कृति सभी के प्रति लोगों ने गर्व का अनुभव किया। अब उन्हें अपने को हिन्दू या भारतीय कहने में कोई संकोच न होता था।

देश की इस प्रकार हीनता की भावना को दूर करने के साथ-साथ आर्यसमाज के द्वारा निर्भीक आलोचना की प्रवृत्ति का संचार हुआ। स्वामी दयानन्द के भाष्य परंपरा को छोड़कर बौद्धिकता पर टिके थे। उन्होंने हिन्दुओं की बहुत-सी बातों की बुद्धिसंमत व्याख्या की। यद्यपि आरम्भ में यह बौद्धिकता और आलोचना की प्रवृत्ति सामाजिक क्षेत्र की ओर बढ़ी, फिर भी यह वहीं तक सीमित न रह सकी और सभी ओर व्याप्त हुई। इसका फल यह हुआ कि लोग पाश्चात्यों की केवल कही-सुनी बातों को न स्वीकार कर उसे अपनी बुद्धि पर तौलने लगे। कालान्तर में विचार-स्वातंत्र्य की यह प्रवृत्ति राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में स्पष्ट रूप से लक्षित हुई। बौद्धिकता (Rationalism)

---

१. "महर्षि स्वामी दयानंद", लेखक महेशप्रसाद मौलवी आलिम फाजिल, पृष्ठ ५६।

युग की विशेषता बन गई, लोगों का संकोच हट गया और वे साहस के साथ आलोचना में प्रवृत्त हुए।

आर्यसमाज मध्यम वर्ग के परिश्रम का फल है। इसका विधान भी लोकतंत्रात्मक था। स्वामीजी ने जन्म के स्थान पर गुण, कर्म और स्वभाव को प्रधानता देकर लोकतन्त्रात्मकता को और भी बढ़ावा दिया। दीवानचंद के इन शब्दों में कितनी सत्यता है—"उन्होंने जन्म पर से जोर हटाकर गुण, कर्म तथा स्वभाव पर आश्रित मूल्य पर जोर दिया जिससे उन्होंने सारी राजनीति शुद्ध लोकतंत्र के आधार पर ही खड़ी की[1]।"

इसके साथ-साथ हिंदू जाति के बीच एकता की भावना को दृढ़ करने का श्रेय भी आर्यसमाज को है। सामाजिक ऐक्य के लिए आर्यसमाज का आग्रह वर्ण-व्यवस्था के त्याग पर था। धार्मिक ऐक्य के लिए उसने बहुत-से देवी-देवताओं की पूजा छोड़कर एक ईश्वर की उपासना का औचित्य बताया और राजनीतिक एकता के लिए विदेशी शासन की अनुपयुक्तता बताकर उससे मुक्ति पाने का संकेत दिया। इस प्रकार 'समाज' ने हिन्दू जाति को एकता के सूत्र में गूँथने का स्तुत्य प्रयास किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आर्यसमाज की प्रगति सर्वतोमुखी थी। यद्यपि आरंभ में सामाजिक सुधार ही उसका प्रधान उद्देश्य था, फिर भी परिस्थितियों से बाध्य होकर यह सामाजिक धारा राजनीतिक प्रवाह में लय हो गई और राजनीतिक आन्दोलन शक्तिशाली हो गए। इस प्रकार युग का आग्रह समाज-सुधार से हटकर राजनीतिक स्वत्वों की प्राप्ति की ओर हो गया। आधुनिक इतिहास भी इसी की पुष्टि करता है कि धर्म और समाज में सुधार

---

१. By shifting emphasis from birth to worth as determined by qualifications, function and disposition, he placed the body politic on a truly democratic basis.

—DAYANAND COMMEMORATION VOLUME, Page 122.

की इच्छा से कई आंदोलन उठे, किन्तु परिस्थिति की गंभीरता ने शनैः-शनैः उनके वेग को राजनीतिक दिशा में मोड़ दिया। इस प्रकार सामाजिक आंदोलन गौण हो गए और राजनीतिक प्रधान। राजनीतिक आंदोलन के सम्बन्ध में H. C. E. Z. Acharias के ये वचन सत्य हैं—......"सामाजिक सुधार की अन्य सभी धाराएँ देश के राजनीतिक जीवन में बहने लगीं और केवल यही कारण है कि भारत का राजनीतिक आंदोलन उसी नव चेतना का आवश्यक अंग है[1]।"

इस प्रकार राजनीतिक चेतना का प्रसार और प्राधान्य उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध की विशेषता बन गए। वर्तमान राजनीतिक आंदोलनों का संचालन करनेवाली कांग्रेस की स्थापना इसी समय हुई, फिर भी राजनीतिक जागर्ति का सूत्रपात कांग्रेस की स्थापना से पहले हो चुका था। राजा राममोहन राय ने जिस प्रकार समाज-सुधार का प्रयास किया उसी प्रकार राजनीतिक दिशा की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। यदि यह कहा जाय कि वे धर्म में इसलिए सुधार करना चाहते थे कि लोगों में राजनीतिक भावना विकसित हो सके तो कोई अत्युक्ति न होगी। राजा ने स्वयं कहा है—"मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि हिन्दुओं की वर्तमान धार्मिक व्यवस्था, राजनीतिक भावना को उन्नत बनाने में समर्थ नहीं है। वर्णभेद और उसके भीतर के भेद-प्रभेद ने उनको राजनीतिक चेतना से नितांत वंचित कर रखा है और अनेक धार्मिक कृत्य और कर्मकांड तथा प्रायश्चित्त आदि के नियमों ने उनको किसी कठिन कार्य के समझने में भी अक्षम कर दिया। कम से कम राजनीतिक

---

१. "All other currents of social reform flowed into the Political life of the country and it is just because of that, that the Political movement of India is an essential part of that renaissance."

—RENASCENT INDIA by H. C. E. Z. Acharias, Page 70

लाभ और सामाजिक सुविधा के लिए उनके धर्म में कतिपय परिवर्तनों का होना मैं आवश्यक समझता हूँ।"[1]

राजा राममोहन राय इस राजनैतिक भावना को दृढ़ करने में सतत प्रयत्नशील रहे और उन्होंने इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया। विचारों के स्वच्छंद प्रकाशन के हेतु उन्होंने प्रेस की स्वतन्त्रता पर बहुत जोर दिया। न्याय-वितरण में जूरी की आवश्यकता, देशी असेसर, संयुक्त न्यायाधीश और माल तथा फौजदारी के विधानों के संग्रह पर उनका विशेष आग्रह था। किसानों की दुरवस्था भी उनसे छिपी न थी। उसकी चर्चा भी उन्हें अत्यन्त व्यथित करती थी।[2] इसलिए उन्होंने सुझाया था कि किसानों पर लगान बढ़ाने का अधिकार जमींदारों से छीन लिया जाय। इसी प्रकार शासन-कर्ताओं से उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि यहाँ के पढ़े-लिखे लोगों का उसी शासन-नीति से लगाव और प्रेम रह सकेगा जो धीरे-धीरे उन्हें उनकी योग्यता

---

१. I regret to say that present system of religion adhered to by Hindus is not well calculated to promote their political interest. The distinction of castes, introducing innumerable divisions and subdivisions among them, has entirely deprived them of political feeling, and the multitude of religious rites and ceremonies and the law of purification have totally disqualified them from understanding any difficult enterprise. It is, I think, necessary that some changes should take place in their religion, at least for the sake of their political advantage and social comfort.

—WORKS OF RAM MOHAN ROY, Page 929-30.

२. In short, such is the melancholy condition of agricultural labourers that it always gives me the greatest pain to allude to it.

—HISTORY OF POLITICAL THOUGHT FROM RAM MAOHAN ROY TO DAYANAND by B. Mazumdar, Page 68.

के अनुसार उत्तरदायित्व तथा विश्वास के पद देगी। अँगरेजी शासन-विधान से प्रभावित होने के कारण वे चाहते थे कि जिस प्रकार अँगरेज के वैयक्तिक स्वतंत्रता के अधिकार सुरक्षित हैं, उसी प्रकार वे भारतीय को भी प्राप्त हों। उनका इंगलिश जाति पर विश्वास था और वे अँगरेजों के शासन को ईश्वर की अनुकंपा समझते थे। वे समझते थे कि "योरोपीय जाति का संपर्क जितना ही घनिष्ठ होता जायगा उतनी ही हमारी साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक उन्नति होगी[1]।"

राजा राममोहन राय का बंगाल के जीवन पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। उनकी शिक्षा और उपदेश से प्रभावित हो बहुत से लोग इस ओर झुके। उनसे प्रभावित कार्यकर्ताओं की उग्रवादी और नरम दल की दो कोटियाँ हैं। उग्रवादी या परिवर्तनवादी दल में ताराचंद्र चक्रवर्ती (१८०४–१८५५), दक्षिणारंजन मुखोपाध्याय (१८१४–७८), रसिककृष्ण मल्लिक (१८१०–५८) और अक्षयकुमार दत्त (१८८०–८६) हैं। इन लोगों ने ब्रिटिश शासन-नीति की कटु आलोचना की है और बड़ी निर्भीकता से उसके दोषों का उद्घाटन किया है। इन लोगों ने साधारण जनता का पक्ष लिया है। ये समानता और स्वतन्त्रता के जन्मजात अधिकार के क्रांतिवादी सिद्धांतों से प्रभावित हुए थे।

ताराचंद्र का कहना था कि 'सिविल सर्विस' को ज्यों का त्यों बनाए रखने से वर्ग-भावना उत्पन्न होकर उनके न्याय को वहाँ शिथिल कर देती है जहाँ उन्हीं के वर्ग का कोई संलग्न होता है और इस प्रकार उनके विरुद्ध न्याय का प्रयत्न विफल होता है। इसलिए इसकी खुली परीक्षा होनी चाहिए। इसका कल्याणकारी फल होगा[2]।

---

१. I am impressed with the conviction that the greater our intercourse with European geantlemen, the greater will be our improvement in literary, social and political affairs.

—ASATIC JOURNAL, June 1830.

२. That the maintenance of the civil service is calculated to promote a sort of clanship which usually blinds the sense of

दाखिन बाबू ने सन् १८७० में प्रतिनिधियों की एसेंब्ली की योजना तैयार की। उनका कहना था कि प्रत्येक प्रांत में प्रांतीय कौंसिल हो जिसमें जनता के चुने हुए प्रतिनिधि और गवर्नमेंट के चुने हुए सदस्यों की संख्या बराबर हो[१]।

रसिककृष्ण मल्लिक ने ब्रिटिश शासन की कटु आलोचना की। उनका कहना था कि ब्रिटिश शासन व्यापारियों के हाथ में है और उनका उद्देश्य है कम-से-कम खर्च में अपने स्वार्थ की सिद्धि।

हरीशचंद्र मुखर्जी ने आत्मनिर्णय के अधिकार की आवाज उठाई। उनका कहना था कि "वह समय करीब-करीब आ गया है जब सभी भारतीय समस्याएँ भारतीयों द्वारा सुलझाई जायँ[२]।"

इन उग्रवादियों के विपरीत नरम दलवालों का यह कहना था कि परिस्थिति के अनुकूल कार्य करना चाहिए। ये लोग जमींदारों का पक्ष समर्थित करते थे। उनका विश्वास था कि शांति और व्यवस्था की सबसे बड़ी अपेक्षा है। परिस्थिति भी ऐसी ही थी। "उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में भारत के हितै-

---

justice to members of its own fraternity, and thus thwarts the efforts of natives to seek redress from the grievances to which they may contribute. Open to public competition and the result will be more salutary and advantageous in every point of view.

—HISTORY OF POLITICAL THOUGHT by B. Mazumdar. Page. 114.

१. In 1870 Dakshinaranjan drew up a plan for constituting a representative legislature. He proposed that in each province there should be Provincial Representatives of the people in equal number, —Ibid, Page 231.

२. Harishchandra Mukherjee raised first cry for recognition of the right of self-determination...The time is nearly come when all India questions must be solved by Indians.

—Ibid. Page 231

ियों के सामने जो सबसे बड़ी समस्या थी वह भारत की स्वाधीनता की न थी, प्रत्युत न्याय और जनता के धन और जीवन की सुरक्षा के सिद्धांत को मान्य ठहराने की थी।[१]" इस दल में प्रसन्नकुमार ठाकुर, द्वारिकानाथ ठाकुर, देवेन्द्रनाथ ठाकुर आदि थे। बंगाल के जीवन पर सन् १८३० से १८६१ तक इनके अतिरिक्त रामगोपाल घोष, पियारीचंद्र मित्र, किशोरीचंद्र मित्र, गोविंदचंद्र दत्त, गिरीशचंद्र घोष का प्रभाव सर्वोपरि था।

उन दो दलों के प्रभावस्वरूप देश में राजनीतिक चेतना का प्रसार हुआ। हम देखते हैं कि प्रतिनिधित्व, प्रेस की स्वतंत्रता, आत्मनिर्णय आदि राजनीतिक सिद्धांत जिनके लिए कांग्रेस अभी तक लड़ रही है, उसकी स्थापना से पहले के हैं। कांग्रेस ने पहले से आते हुए इन राजनीतिक विचारों की जड़ें जनता के हृदय में अच्छी तरह जमा दीं। फिर भी इसका श्रेय कांग्रेस के पूर्ववर्ती इन प्रतिभाशाली व्यक्तियों को है।

इसी प्रकार कांग्रेस की स्थापना के पूर्व कुछ राजनीतिक संस्थाएँ और पार्टियाँ भी बनी थीं जो समय-समय पर देशदशा और समस्याओं की ओर जनता तथा अधिकारियों का ध्यान आकृष्ट करती थीं। समय-समय पर पार्लमेंट के पास विशेष समस्याओं को लेकर डेपुटेशन भी भेजे गए थे। जमींदारी एसोसियेशन बंगाल की प्रथम संस्था है जो राजनीतिक मंतव्यों को लेकर बनी थी। इसमें सभी का प्रवेश था। जाति, वर्ण और देश का कोई विचार इसमें छूटा न था। साथ ही उदार सिद्धांतों पर इसका निर्माण हुआ था। सन् १८४३ में 'बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसाइटी' बनी और सन् १८५१ में 'लैंडहोल्डर्स सोसाइटी' और 'ब्रिटिश इंडिया सोसाइटी' को मिलाकर 'ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन' का निर्माण हुआ। सन् १८७५ में इंगलैंड में 'कान्स्टि-

---

१. The great problem which confronted the well-wishers of India in the first half of the nineteenth century was not autonomy for India but the bare recognition of the principles of justice and security of life and property for the citizens.

—Ibid, Page 20.

च्यूशन सोसाइटी आव् इंगलैंड' की स्थापना हुई। सन् १८८० में एक डेपुटेशन (जिसके नेता लालमोहन घोष थे) के द्वारा प्रेस ऐक्ट और आर्म्स ऐक्ट के हटाने और सिविल सर्विस की परीक्षा में वय बढ़ाने की प्रार्थना की गई।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कांग्रेस की स्थापना तक (सन् १८८५) राजनीतिक भावनाएं पर्याप्त विकसित हो गई थीं। बंगाल के समान बंबई प्रांत में भी सार्वजनिक सभा तथा अन्य संस्थाओं के द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा था। सन् १८८५ में कांग्रेस की स्थापना से ये बिखरी हुई शक्तियाँ एक सूत्र में बँध गईं। सभी प्रांतों के प्रतिभाशाली नेताओं के एकत्र होने से उनके उद्देश्यों और आदर्शों में महत्ता और उदारता आई। उनकी दृष्टि अपने प्रांतों की समस्याओं तक सीमित न रहकर समग्र भारत के हितचिंतन में प्रवृत्त हुई। इस प्रकार सन् १८८५ में राजनीतिक क्षेत्र में 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' प्रथम भारतीय संस्था बनी।

इसकी स्थापना उन महान् व्यक्तियों द्वारा हुई थी जिनकी शिक्षा-दीक्षा में पाश्चात्य वातावरण का प्रधान हाथ था, जो पाश्चात्य संस्कृति का आदर करते थे और जिनको इंगलैंड से बड़ी आशाएँ थीं। इंगलैंड के वैधानिक ढाँचे पर यहाँ के सार्वजनिक जीवन को संचालित करने के लिए, पाश्चात्य विचारों का समादर करनेवाले इन प्रतिभाशाली व्यक्तियों ने सन् १८८५ में 'इंडियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना की।

कांग्रेस की स्थापना से लेकर उन्नीसवीं शती के अंत तक के समय को 'उदारजन (लिबरल) युग' कहा जा सकता है। रानडे, दादाभाई नौरोजी, तैलंग, मेहता, गोखले प्रभृति कांग्रेस के कर्णधार उदार वातावरण और परंपरा में पले थे। इसी से उनकी नीति भी इँगलैंड के उदार दल के समान वैधानिक आंदोलन में आस्था रखती थी। इसी समय जीवन के सभी क्षेत्रों में और विशेषतया राजनीतिक क्षेत्र में उदार परंपरा की सभी विशेषताएँ दिखाई देती हैं।

अतिवाद का तिरस्कार और मध्यम मार्ग का अवलंबन उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। उनका भावावेश बुद्धि द्वारा संयमित रहता है और प्रत्येक समस्या के औचित्य तथा उसके सभी पक्षों की गहरी छानबीन उनका उद्देश्य

रहता है। इस समय की कांग्रेस की सबसे बड़ी विशेषता इंगलैंड के प्रति विश्वास है। इस युग के कांग्रेस के सभी नेताओं ने अपना ऐसा ही विश्वास प्रकट किया है। दादाभाई नौरोजी ने सन् १८८६ में कलकत्ते में ब्रिटिश शासन के लाभ के विषय में बड़े विस्तार से कहा था। (यह प्रवृत्ति उन्नीसवीं शती के अंत तक रही)। (सन् १९०७ में एक वक्तृता में) गोखले का विश्वास था कि सभी प्रकार की उन्नति ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर रहते हुए संभव है। "मैं चाहता हूं कि भारत संसार की बड़ी जातियों के बीच उच्च राजनीतिक तथा औद्योगिक स्थान प्राप्त करे—धर्म में, साहित्य में, विज्ञान तथा कला में। मैं यह सब चाहता हूँ और साथ-साथ अनुभव करता हूँ कि मेरी समग्र आकांक्षाएं वस्तुतः तथा सार रूप में साम्राज्य के भीतर रहते हुए भी पूर्ण हो सकती हैं[1]।"

इसी से कांग्रेस-नेता इंगलैंड के साथ एक ओर सहयोग देने के लिए तैयार रहते थे और दूसरी ओर उनकी शासन-नीति की आलोचना करने में कभी पीछे नहीं हटते थे। सहयोग और समालोचना उनकी नीति थी। अपने उद्देश्य को प्राप्त करने में वे प्रत्येक वैधानिक उपाय का अवलंबन लेते थे। वैधानिक आन्दोलन उनका प्रधान शस्त्र था।

वैधानिक आंदोलन के साथ-साथ उनमें सामंजस्य की भावना अत्यंत तीव्र थी। कुशल राजनीतिज्ञ होने के कारण वे संभाव्य का तिरस्कार कर असंभव का स्वप्न नहीं देखते थे। प्रत्युत जो मिलता था उसे स्वीकार कर आगे के लिए लड़ते थे, किन्तु उनकी सामंजस्य-भावना ने न तो उनके उच्च आदर्शों को नीचे गिराया और न देश-हित की बलि चढ़ाई। नौरोजी से

---

१. I want India to take her proper place among the great nations of the world industrially and politically, in Religion, in literature, in science and in arts. I want all this and feel at the same time, that the whole of these aspirations can, in essence and reality, be realised within the Empire.

—INDIAN LIBERALISM by V. N. Naik, Page 17.

लेकर गोखले तक सभी नेता भारत और भारतवासियों के लिए बराबरी के अधिकार की माँग रखते रहे। गोखले ऐसे बराबर शासन की माँग करते रहे जिसकी भावना राष्ट्रीय हो, जो हममें इस बात का विश्वास उत्पन्न करा सके कि हमारा हित उसका प्रथम कर्तव्य है और हमारी इच्छाएँ तथा संमतियाँ उसके लिए कुछ मूल्य रखती हैं[१]।"

औदार्यवाद, सहयोग, समालोचना, सामंजस्य, ब्रिटेन के प्रति आस्था, समानाधिकार की माँग—की यह परंपरा उन्नीसवीं शती के अंत तक चलती रही। किन्तु बीसवीं शती के आरंभ से ही नेताओं की आशा क्षीण होने लगी और असंतोष तीव्र गति से बढ़ने लगा।

इस असंतोष के लक्षण उन्नीसवीं शती में भी दृष्टिगोचर होने लगे थे। यों तो सन् '५७ की राज्यक्रांति असंतोष का प्रथम रूप है। सन् '५७ से शासक और शासित के बीच खाई अधिकाधिक गहरी होती गई और नेताओं का जन्म हुआ, विश्वास हिलने लगा। शासकों की नीति से क्षोभ बढ़ने लगा। भारतीय छात्र सिविल सर्विस में कम संख्या में उत्तीर्ण हो सकें, इसलिए परीक्षा की प्रवेश-वय घटा दी गई। इससे बड़ा असंतोष बढ़ा। भारतीय नेताओं ने इस बात पर जोर दिया कि प्रवेश-वय बढ़ाई जाय और परीक्षा भारत और इँगलैंड दोनों स्थानों में साथ-साथ हो। इसको लेकर बड़े जोरों का आंदोलन चला। सन् १८७६–७८ में जब भारत दुर्भिक्ष द्वारा आक्रांत था दिल्ली में दरबार की बड़ी शानदार तैयारियाँ हुईं। जब देशी समाचार-पत्रों में इसकी टीका-टिप्पणी हुई तो लार्ड लिटन ने प्रेस ऐक्ट बना दिया। भारत का अपमान करने के लिए आर्म्स ऐक्ट भी इसी समय बना। इससे भारत के जनमत में बड़ा असंतोष बढ़ा। लार्ड रिपन के शासनकाल के बाद लार्ड

---

१. What the country needs at the present moment above every thing else is a government, national in spirit, a government that will enable us to feel that our wishes and opinions are to a matter of some account.

—INDIAN LIBERALISM by V. N. Naik, Page 35.

विरोधी है। उन्नीसवीं शती के अंत तक विरोधी भावना पर्याप्त मात्रा में बढ़ गई थी और उसके बाद तो इस विरोध ने क्रियात्मक रूप धारण कर लिया। बीसवीं शती के प्रथम दशक तक पहुँचते न पहुँचते नेताओं को विश्वास हो गया था कि अब अनुनय-विनय बेकार है। उन्हें इँगलैंड से कोई आशा न रह गई थी। प्रार्थना-नीति का परित्याग अब नेताओं की जिह्वा पर था। हाथ फैलाने के स्थान पर अब पैर पर खड़े होने का आदेश दिया जा रहा था। किसी बाहरी से सहायता की आशा न थी। नेता अब आत्मप्रत्यय और आत्मनिर्भरता का पाठ पढ़ा रहे थे। श्री आचार्य (H. C. E. Z. Acharias) ने इस स्थिति का संकेत किया है कि अब भिक्षुक-नीति आगे नहीं बढ़ा सकती है। भारतीय और इंगलिश राजनीतिपटु डिमोक्रेट की मित्रता मृग-मरीचिका है और भविष्य के लिए हमारा आदर्श होगा "स्वयं हम।"

इस बढ़ते हुए असंतोष का फल अच्छा ही हुआ। राजनीतिक जीवन को इससे और उत्तेजना मिली और राष्ट्रीय आंदोलन का विकास हुआ। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को पाँच और कारणों से सहायता मिली। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अँगरेजी शिक्षा, भारतीय संस्कृति तथा इतिहास का अनुसंधान, पाश्चात्य संस्कृति के विरुद्ध प्रतिवर्तन और हिंदुत्व में आस्था। यातायात की सुगमता और पाश्चात्य देशों के राजनीतिक आंदोलनों ने भारत के राजनीतिक और राष्ट्रीय जीवन को और पुष्ट किया। अँगरेजी शिक्षा से भारतीयों के हृदय में इंगलैंड के समान राजनीतिक स्वत्वों को प्राप्त करने की अभिलाषा

---

१. The educated classes now see clearly that the (British) bureaucracy is growing frankly selfish and openly opposed to political aspirations.

—NEW IDEAS IN INDIA by Rev. J. Morrison.

२. It sufficed to convince India more and more that mendicancy led nowhere, that an alliance between Indian and English democrats was a chimera, and that the only motto for the future must be Swin Fein's "ourselves alone."

—RENASCENT INDIA, Page 146.

जागरित हुई और वे बराबरी का व्यवहार चाहने लगे। अँगरेजी शिक्षा ने तत्कालीन आर्थिक परिस्थिति से क्षोभ और असंतोष पैदा कर राजनीतिक जीवन को और उद्दीप्त किया। भारत के अतीत-इतिहास के अनुसंधान से हीनता की भावना दूर हुई और अतीत का विवरण जानकर देश के प्रति संमान और अपने में गर्व जगा। राजेंद्रलाल मित्र आदि के अनुसंधान का बड़ा शुभ परिणाम हुआ। फलतः साहित्य में भी अतीत भारत के गौरवमय चित्र का अंकन हुआ और इस प्रकार देशवासियों को उद्बोधित किया गया। अपने को शिष्ट और अपनी संस्कृति को उच्च समझने के कारण पाश्चात्य संस्कृति के विरुद्ध प्रतिवर्तन हुआ और उसकी चकाचौंध कम हुई तथा और अंधानुकरण की प्रवृत्ति धीरे-धीरे हटने लगी। यह भी राष्ट्रीयता का एक लक्षण है। यातायात की सुगमता से अंतरप्रांतीय विचार-विनिमय संभव हुआ और राजनीतिक क्षेत्र में प्रांतीय भावनाओं से ऊपर उठकर सार्वदेशीय आदर्श-ध्येय सामने रखे गए। इसी समय योरोपीय देशों में स्वतंत्रता की लहर दौड़ रही थी। सन् १८६१ से १८८४ के बीच जर्मनी, इटली, रूमानिया, सर्विया और मांटीनीग्रो राष्ट्रीय दृष्टि से संयुक्त हुए। इसी बीच इँगलैंड में द्वितीय और तृतीय 'रिफार्म ऐक्ट' पास हुए। फ्रांस में तीसरी रिपब्लिक स्थापित हुई। इटली और स्पेन में वैधानिक राज्यतंत्र बना और अमेरिकी शासन-विधान भी अधिकाधिक लोकतंत्रात्मक बनाया गया। इसका भारत पर भी प्रभाव पड़ा। छोटे-छोटे देशों को स्वतंत्र होते देखकर भारत का राष्ट्रीय जीवन भी उन्नतिकामी हुआ। सन् १८१५ से १८८४ के बीच योरप और भारत में (लिबरलवाद) औदार्यवाद प्रबल था। योरप में इसके परिणाम-स्वरूप लोक-सत्तात्मक शासन की व्यवस्था हुई और भारत में, जो पराधीन देश था, राष्ट्रीय जीवन का सूत्रपात हुआ।

इस समय कांग्रेस में भी औदार्यवाद प्रबल था। इसका एक कारण तो योरोपीय औदार्यवाद था जिसके वातावरण और आदर्शों में भारतीय नेता भी प्रतिपालित हुए थे। इसका दूसरा कारण यह था कि कांग्रेस में उच्च-मध्यवर्ग प्रधान था जो इँगलैंड के राजनीतिक जीवन की देखादेखी वैधानिक शब्दावली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग करता था और सामंजस्यवाद का गुण-

गान। यह समय अँगरेजी जाननेवाले भारतीयों का था। फलतः अँगरेजी विचार सर्वोपरि थे। उच्चमध्यवर्ग के प्राधान्य के कारण जन-साधारण की समस्या कांग्रेस के सामने न थी। उसकी माँग केवल नौकरी, सिविल सर्विस और बराबरी के बर्ताव तक सीमित थी। अधिकारों के लिए उस समय वैधानिक आंदोलन के आगे कुछ सोचा ही नहीं जा सकता था। प्रार्थना और समालोचना उनके शस्त्र थे और राजभक्ति का विश्वास बराबर दिलाया जाता था। यहाँ पर इतना और जोड़ देना आवश्यक है कि इन नेताओं की राजभक्ति चाटुकारिता नहीं थी। आत्मसंमान के साथ राजभक्ति का आश्वासन बार-बार इसलिए दिलाया जाता था कि नेताओं को इँगलैंड की ईमानदारी पर विश्वास था और वे इँगलैंड के संपर्क को परमावश्यक और शुभ समझते थे। इन नेताओं की राजभक्ति के विषय में श्री नायक (V. N. Naik) का यह कथन युक्ति-युक्त है कि इनकी देशभक्ति राजभक्ति के फलस्वरूप न थी वरन् राजभक्ति दृढ़ देशभक्ति से प्रसूत थी[1]।

राजभक्ति की यह भावना उन्नीसवीं शती का अंत होते-होते क्षीण हो गई और नेताओं की आशाएँ नष्ट होने लगीं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कांग्रेस की स्थापना और उसके पूर्व अँगरेजी विचारों का प्राबल्य था और उसके बाद ब्रिटिश-विरोधी भावों का सूत्रपात हुआ, फिर भी सहयोग-सामंजस्य और समालोचना उन्नीसवीं शती के राजनीतिक जीवन की मुख्य प्रवृत्तियाँ बनी रहीं। राजनीतिक जागर्ति से आर्थिक, शैक्षिक और साहित्यिक क्षेत्र में भी सुधार और चेतनता का वेग बढ़ा।

राजनीतिक जागर्ति ने देश की आर्थिक अवस्था की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। राजनीतिक अधिकारों की माँग इसलिए भी की जा रही थी कि ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति थोड़ी-बहुत प्रभावित की जा सके। विज्ञ जन यह स्पष्टतया देख रहे थे कि ब्रिटिश आर्थिक नीति भारत के हित को दृष्टि में रखकर नहीं संचालित हो रही थी। उसका ध्यान केवल

---

१. Their patriotism was not the foot of their loyalty rather their loyalty was the foot of their sturdy patriotism.

—INDIAN LIBERALISM by V. N. Naik, Page 12.

अपने सौदागरों के लाभ की ओर था। इस प्रकार ब्रिटेन की आर्थिक नीति का इतिहास भारत के प्रति घोर अन्याय की कथा कह रहा था। यह अन्याय कृषि, व्यापार और आर्थिक शासन-व्यवस्था तीनों में झलक रहा है। प्रत्येक देश की आर्थिक अवस्था का सच्चा हाल इन्हीं तीन अंगों से जाना जाता है। ब्रिटिश शासन के आरंभ से ये तीनों अपने ह्रास और ब्रिटिश स्वार्थ की घोषणा कर रहे हैं।

ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन बंगाल-बिहार की दीवानी के रूप से शुरू हुआ। उसी समय से उसकी कृषि-नीति का शोषण आरंभ हुआ। कंपनी भारत को अपनी जमींदारी या उपनिवेश समझने लगी और अधिक से अधिक लाभ की चिंता में रत हुई। फलतः मनमाना बंदोबस्त शुरू हुआ। मनमाने लगान पर लोग जमीन लेने को बाध्य किए गए और बड़ी कठोरता से लगान वसूल किया जाने लगा। विक्रय-विधान (Sales Laws) की कठोरता से बंगाल के बहुत से पुराने जमींदार नष्ट हो गए। उससे घोर अशांति और अव्यवस्था फैलने लगी। फलतः सन् १७९३ में स्थायी व्यवस्था इस्तमरारी बंदोबस्त (Permanent Settlement) हुआ। कुछ समय बाद स्वार्थ के वशीभूत होकर अधिकारियों ने इसे अन्य विजित प्रांतों पर लागू नहीं किया। अवध को ब्रिटिश शासन में मिलाने पर इसे लागू करने की घोषणा भी हुई थी किंतु उसको कार्यान्वित नहीं किया गया क्योंकि ऐसा करने से अधिकारी भूमिकर को मनमाने रूप से नहीं बढ़ा सकते थे।

अधिकारियों ने भूमिकर बहुत बढ़ा-चढ़ा रखा था। उत्तरी भारत में यह भूमिकर पहले-पहल ८३% रखा गया, फिर ७५ प्रतिशत, फिर ६६%। यह भी बहुत ज्यादा था। इसे अव्यावहारिक जानकर ५०% निश्चित कर दिया गया। व्यवहार में इसका भी उल्लंघन हो जाता है। यह ५०% का भूमिकर भी बहुत ज्यादा है। श्री दत्त (R. C. Dutt) का यह कहना बिलकुल ठीक है कि किसान की आमदनी पर २०% का इनकमटैक्स बहुत ज्यादा है और किसी भी देश के सभ्य शासन में ऐसा नहीं मिलता[1]।

---

१. An income tax of 50% on the profits of cultivator is a

गान। यह समय अँगरेजी जाननेवाले भारतीयों का था। फलतः अँगरेजी विचार सर्वोपरि थे। उच्चमध्यवर्ग के प्राधान्य के कारण जन-साधारण की समस्या कांग्रेस के सामने न थी। उसकी माँग केवल नौकरी, सिविल सर्विस और बराबरी के बर्ताव तक सीमित थी। अधिकारों के लिए उस समय वैधानिक आंदोलन के आगे कुछ सोचा ही नहीं जा सकता था। प्रार्थना और समालोचना उसके शस्त्र थे और राजभक्ति का विश्वास बराबर दिलाया जाता था। यहाँ पर इतना और जोड़ देना आवश्यक है कि इन नेताओं की राजभक्ति चाटुकारिता नहीं थी। आत्मसंमान के साथ राजभक्ति का आश्वासन बार-बार इसलिए दिलाया जाता था कि नेताओं को इँगलैंड की ईमानदारी पर विश्वास था और वे इँगलैंड के संपर्क को परमावश्यक और शुभ समझते थे। इन नेताओं की राजभक्ति के विषय में श्री नायक (V. N. Naik) का यह कथन युक्ति-युक्त है कि इनकी देशभक्ति राजभक्ति के फलस्वरूप न थी वरन् राजभक्ति दृढ़ देशभक्ति से प्रसूत थी[१]।

राजभक्ति की यह भावना उन्नीसवीं शती का अंत होते-होते क्षीण हो गई और नेताओं की आशाएँ नष्ट होने लगीं। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कांग्रेस की स्थापना और उसके पूर्व अँगरेजी विचारों का प्राबल्य था और उसके बाद ब्रिटिश-विरोधी भावों का सूत्रपात हुआ, फिर भी सहयोग-सामंजस्य और समालोचना उन्नीसवीं शती के राजनीतिक जीवन की मुख्य प्रवृत्तियाँ बनी रहीं। राजनीतिक जागर्ति से आर्थिक, शैक्षिक और साहित्यिक क्षेत्र में भी सुधार और चेतनता का वेग बढ़ा।

राजनीतिक जागर्ति ने देश की आर्थिक अवस्था की ओर भी लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। राजनीतिक अधिकारों की माँग इसलिए भी की जा रही थी कि ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीति थोड़ी-बहुत प्रभावित की जा सके। विज्ञ जन यह स्पष्टतया देख रहे थे कि ब्रिटिश आर्थिक नीति भारत के हित को दृष्टि में रखकर नहीं संचालित हो रही थी। उसका ध्यान केवल

---

१. Their patriotism was not the foot of their loyalty rather their loyalty was the foot of their sturdy patriotism.

—INDIAN LIBERALISM by V. N. Naik, Page 12.

अपने सौदागरों के लाभ की ओर था। इस प्रकार ब्रिटेन की आर्थिक नीति का इतिहास भारत के प्रति घोर अन्याय की कथा कह रहा था। यह अन्याय कृषि, व्यापार और आर्थिक शासन-व्यवस्था तीनों में झलक रहा है। प्रत्येक देश की आर्थिक अवस्था का सच्चा हाल इन्हीं तीन अंगों से जाना जाता है। ब्रिटिश शासन के आरंभ से ये तीनों अपने ह्रास और ब्रिटिश स्वार्थ की घोषणा कर रहे हैं।

ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन बंगाल-बिहार की दीवानी के रूप में शुरू हुआ उसी समय से उसकी कृषि-नीति का शोषण आरंभ हुआ। कंपनी भारत को अपनी जमींदारी या उपनिवेश समझने लगी और अधिक से अधिक लाभ की चिंता में रत हुई। फलतः मनमाना बंदोबस्त शुरू हुआ। मनमाने लगान पर लोग जमीन लेने को बाध्य किए गए और बड़ी कठोरता से लगान वसूल किया जाने लगा। विक्रय-विधान (Sales Laws) की कठोरता से बंगाल के बहुत से पुराने जमींदार नष्ट हो गए। उससे घोर अशांति और अव्यवस्था फैलने लगी। फलतः सन् १७९३ में स्थायी व्यवस्था इस्तमरारी बंदोबस्त (Permanent Settlement) हुआ। कुछ समय बाद स्वार्थ के वशीभूत होकर अधिकारियों ने इसे अन्य विजित प्रांतों पर लागू नहीं किया। अवध को ब्रिटिश शासन में मिलाने पर इसे लागू करने की घोषणा भी हुई थी किंतु उसको कार्यान्वित नहीं किया गया क्योंकि ऐसा करने से अधिकारी भूमिकर को मनमाने रूप से नहीं बढ़ा सकते थे।

अधिकारियों ने भूमिकर बहुत बढ़ा-चढ़ा रखा था। उत्तरी भारत में यह भूमिकर पहले-पहल ८३% रखा गया, फिर ७५ प्रतिशत, फिर ६६%। यह भी बहुत ज्यादा था। इसे अव्यावहारिक जानकर ५०% निश्चित कर दिया गया। व्यवहार में इसका भी उल्लंघन हो जाता है। यह ५०% का भूमिकर भी बहुत ज्यादा है। श्री दत्त (R. C. Dutt) का यह कहना बिलकुल ठीक है कि किसान की आमदनी पर २०% का इनकमटैक्स बहुत ज्यादा है और किसी भी देश के सभ्य शासन में ऐसा नहीं मिलता[१]।

---

१. An income tax of 50% on the profits of cultivator is a

भूमिकर के इतने बढ़े-चढ़े होने का दुष्परिणाम यह हुआ कि किसान की दशा दिन-प्रतिदिन गिरने लगी। ऋण बढ़ने लगा और वह कुछ भी न बचा सका कि दुर्दिनों में अपने परिवार का पेट भी भर सके। दुर्भिक्ष की बात तो अलग रही। "अच्छी पैदावार के समय में भी भारत की पंचमांश ग्रामीण जनसंख्या ४०,०००,००० और ५०,०००,००० के बीच भरपेट भोजन नहीं पाती है[१]।" "भूमि का बंदोबस्त इतना भी नहीं छोड़ता कि किसान वर्ष पर्यंत अपने परिवार का भरण-पोषण कर सके।" "ब्रिटिश साम्राज्य में रय्यत का चित्र अत्यंत दयनीय है क्योंकि अधिकारियों ने उसके प्रति सर्वत्र अन्याय किया है[२]।"

कृषि और कृषक की दयनीय अवस्था का इसी से पता चल सकता है कि उन्नीसवीं शती में कई बार दुर्भिक्ष पड़ा। इनमें सन् १८३७, ५७, ७६ और ९७ के अकाल बड़े भयंकर थे। इन दुर्भिक्षों में लाखों की संख्या में मनुष्य काल-कवलित हुए। कृषक की दुरवस्था को देखकर ही मैकनिकल को

---

heavier assessment that is known in any other country under a civilised govt.

—ECONOMIC HISTORY OF INDIA by R. C. Dutt, P. 10.

१. It is estimated from official records that one-fifth of the Indian rural population 40,000,000 or between 40,000,000 and 50,000,000 of people are insufficiently fed even in years of good harvest.

—ENGLAND AND INDIA by R. C. Dutt, Page 125.

२. "The Government assessment does not leave enough food to the cultivator to support himself and his family throughout the year." "The rayat will remain the most pathetic figure in the British Empire for his masters were ever been unjust to him."

William Hunter in 1883, Quoted in RENASCENT INDIA by H. C. E. Z. Acharias on Page 98.

लिखना पड़ा कि "जनता के हृदय पर विजय पाने की तो कोई बात नहीं, हम उसकी भूख भी नहीं शान्त कर सके हैं जैसी कि पहले थी ।"

दुर्भिक्ष के बीच भी जनता इतनी दुखी, पीड़ित न होती यदि उसके व्यापार और कला-कौशल की रक्षा की जा सकती । भारत की हाथ की बनाई हुई चीजों की योरप में बहुत खपत थी और कम्पनी के शासन-काल में भी थोड़े समय तक व्यापार चलता रहा । फिर एक तो मशीन की प्रतिद्वंद्विता में हाथ की चीजें न ठहर सकीं, दूसरे ब्रिटेन की स्वार्थमयी नीति ने यहाँ के कला-कौशल को कुचल दिया । शासक रूप में प्रतिष्ठित होने के कारण कंपनी ने ऐसे नियम बनाए जिनसे यहाँ के कला-कौशल को बड़ा धक्का पहुँचा । योरप से आनेवाली भारतीय कलावस्तु पर बहुत ज्यादा कर लगाकर भारत के व्यापार को रोकने का प्रयत्न किया गया और भारत में ब्रिटिश माल के निर्यात पर नाममात्र का कर लगाकर उसे प्रोत्साहित किया गया । इस प्रकार ब्रिटेन के सौदागरों ने राजनीतिक अन्याय द्वारा भारत के व्यापार को नष्ट किया ।

व्यापार के नष्ट होने से कारीगर बेकार हो गए और वे खेती करने को विवश हुए । इँगलैंड की व्यापारिक नीति ने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी कि भारत कच्चा माल बाहर भेजने को बाध्य हुआ और इँगलैंड से तैयार माल लेना पड़ा । ब्रिटेन की स्वार्थमयी नीति ने भारतीय नेताओं के बार-बार प्रार्थना करने पर भी यहाँ के उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन न दिया । इस संबंध में श्री दत्त (R. C. Dutt) का यह कथन यथार्थ है—"ब्रिटिश शासकों की व्यापारिक नीति डेढ़ सौ वर्ष से भारत के हित को ध्यान में न रखकर ब्रिटिश सौदागरों की लाभ-दृष्टि से संचालित होती रही है···भारत का निर्यात अब कच्चा माल

---

१. It is not that we have not won the hearts of the people, we have not even satisfied their hunger......there can be little question that for the greatness of its inhabitants' distress and hunger are no farther from them today than they were of old.

—MAKING OF MODERN INDIA by Macnicol, Page 7.

है, मुख्यतया जनता का भोजन। भारत की औद्योगिक राष्ट्र-संपत्ति संकुचित हो गई।[1]"

इसी प्रकार जहाँ एक ओर कृषि शोषित हो रही थी और व्यापार में स्वार्थ प्रधान था वहाँ दूसरी ओर शासन में निरंकुशता थी। शासन पर ऋण था। जब सन् १८५८ में कंपनी समाप्त हुई तो भारत पर ७ करोड़ का ऋण था। कंपनी के शेयर पर सूद भी भारत को देना पड़ रहा था। अफगान-युद्ध और चीनी युद्ध भारत के बाहर हुए थे—उनका खर्च भी भारत पर लाद दिया गया। सन् १८५८ में भारत का शासन कंपनी के हाथ से ब्रिटिश पार्लमेण्ट के हाथ में आ गया। लेकिन ब्रिटेन ने केवल लाभ को अपनाया, दूसरे उत्तरदायित्व को नहीं। युक्तिसंगत बात तो यह है कि किसी भी वस्तु को लेने पर उसके लेने-देने का सारा भार खरीदार पर आता है, लाभ और हानि दोनों उसे भोगनी पड़ती हैं, लेकिन यहाँ ऐसा न हुआ। ब्रिटेन को भारत का उपनिवेश बिना एक कौड़ी खर्च किए मिल गया। कंपनी का धन भारतीय ऋण में परिवर्तित कर दिया गया जिसका भुगतान भारत पर लाद दिया गया। इस प्रकार ब्रिटेन भारत का खरीदार बना, किंतु क्रय-मूल्य भारतवासियों को चुकाना पड़ा[2]।"

---

१. During a century and a half the commercial policy of the British rulers of India has been determined, not by the interests of Indian manufacturers, but by those of British manufacturers ········India's exports now are mostly raw produce··· ·····largely the food of the people. Manufacturing industry as a source of national income has been narrowed.

—ECONOMIC HISTORY OF INDIA by R. C. Dutt, Page 9.

२. The East India Company's trade was abolished in 1838, and the company abolished in 1858, but their policy remains. Their capital was paid off by loans which were made into an Indian Debt on which interest is paid from Indian taxes. The empire was transferred from the company to the crown but India paid the purchase money.

—Ibid, Page 9.

ऋण के साथ-साथ शासन का व्यय भी बढ़ता गया। विक्टोरिया के शासन-ग्रहण के समय होम चार्जेज (Home Charges) तीस लाख रुपए थे। विक्टोरिया की मृत्यु के समय इसी विभाग का खर्च एक करोड़ साठ लाख हो गया। इसी प्रकार ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति ने रूस के विरुद्ध अपना प्रभुत्व बढ़ाने के लिए भारत के बाहर जो लड़ाइयाँ लड़ीं उनका खर्च भी भारत पर लादा गया। डिजरेली और लिटन की भारतीय सीमा को सुदृढ़ और वैज्ञानिक बनाने की नीति ने फौजी खर्च और भी बढ़ा दिया। भारत की करीब-करीब आधी आय सेना-विभाग में खपने लगी। फौजी खर्च के इतने बढ़े-चढ़े होने के कारण अन्य प्रकार के सुधार असंभव हो गए।

ऐसी स्थिति में कौन सा देश संपन्न बना रह सकता था। जब कि व्यापार नष्ट हो चुका हो, कृषि करों (टैक्सों) से लदी हो और आय का एक तिहाई देश के बाहर भेज दिया जाता हो तो कोई भी देश गरीबी और दुर्भिक्ष के चंगुल में जकड़ जायगा। "इस प्रकार का सतत आर्थिक शोषण तो इंगलैंड को भी गरीब बना देता। फिर भारत की क्या बात जहाँ एक मजदूर की दैनिक आय केवल दो या तीन पैसे हैं।"

ऐसी आर्थिक परिस्थिति में असंतोष अनिवार्य था। असंतोष उस निरंकुश शासन-नीति के प्रति था जो जनमत की अवहेलना करती थी। देशवासी देख रहे थे कि हमारा काम केवल कर (टैक्स) देना रह गया है। इसके आगे न हमारे कोई अधिकार हैं और न कोई हमारी सुनता है। नेता शासन में प्रतिनिधित्व की माँग पेश कर रहे थे, लेकिन बेकार। शासन की यह त्रुटि राजनीतिज्ञों की दृष्टि में थी और उन लोगों ने समय-समय पर इस विषय पर अपने उद्गार प्रकट किए हैं। श्री शोर (Hon'ble E. J. Shore) का कहना है—"सारे राष्ट्र को अपने हित और लाभ के अधीनस्थ बनाना अँग-

---

१. So constant and accumulating a drain even on England would soon impoverish her; how severe then must be its effects on India, where the wage of a labourer is from two pence to three pence a day.

—Ibid, Page 410.

रेजों का मूल सिद्धांत है···भारतीय आदर और संमान के उन सब पदों से वंचित रखे गए हैं जिन्हें छोटे-छोटे अँगरेजों तक को ग्रहण करने का अवसर दिया गया।" इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भी नेताओं ने भारतीय शासन की निरंकुशता की भर्त्सना की है। वे बराबर इस बात के लिए प्रयत्नशील रहे कि भारतीय शासन-नीति यहाँ के कला-कौशल को प्रोत्साहन दे और भारतीय युवकों को कला-कौशल तथा कृषि-विज्ञान की उत्तमोत्तम शिक्षा मिले तथा यहाँ के उद्योग-धंधों की उन्नति हो जिससे देश की आर्थिक दशा सुधरे। कांग्रेस ने सन् १८८७ में अपने तीसरे संमेलन में इस विषय का प्रस्ताव भी पास किया—"देश की गरीबी को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि गवर्नमेंट से प्रार्थना की जाय कि वह देश की परिस्थिति के अनुकूल कला-कौशल की शिक्षा-योजना प्रचारित करे। देशी वस्तुओं को प्रोत्साहित करे.........और अधिक परिमाण में देश के बुद्धि-कौशल का उपयोग करें......।" इसके बाद के संमेलन में (१८८८) इस बात का आग्रह किया कि देश की औद्योगिक अवस्था की जाँच के लिए एक कमीशन नियुक्त किया जाय। सन् १८९१, ९२, ९३ में कांग्रेस ने इस प्रार्थना को फिर दोहराया। सन् १८९४ में कांग्रेस ने बड़े जोरदार शब्दों में शासन द्वारा शिक्षा पर अधिकाधिक व्यय करने और विशेषतया औद्योगिक स्कूल और कालेजों के महत्त्व को बताया। १८९५ में यह बात फिर दोहराई गई। सन् १८९६ मे जब देश भयानक दुर्भिक्ष से पीड़ित था कांग्रेस ने फिर कहा कि दुर्भिक्षों की भयंकरता को कम करने का सबसे प्रभावपूर्ण उपाय है—देश के मिटते हुए कला-कौशल

---

१. The fundamental principle of the English has been to make the whole nation subservient in every possible way to the interests and benefits of themselves·········The Indians have been excluded from every honour, dignity or office to which the lowest Englishman could be prevailed upon to accept. —Honourable E. J. Shore's NOTES ON INDIAN AFFAIRS, Vol. II, Page 516, Quoted by R. C. Dutt. in ECONOMIC HISTORY OF INDIA, Page 411.

२. That having regard to the poverty of the people it is

को प्रोत्साहन देना और नवीन व्यवसाय तथा कला-कौशल की स्थापना। सन् १८९८ से कांग्रेस ने फिर प्रार्थना की—"देश की गरीबी को ध्यान में रखते हुए और देशी व्यवसाय की अधोगति को देखते हुए शासन औद्योगिक शिक्षा की विस्तृत और पटु योजना की व्यवस्था करेगा और इसको सुचारु रूप से चलाने के लिए ज्यादा रकम अलग कर देगा[१]।"

क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी में शासन की व्यावसायिक और औद्योगिक नीति *Laissez faire* पर आश्रित थी, देश की औद्योगिक शिक्षा के अभाव की पूर्ति अंगरेजों को (लंबी तनख्वाह देकर) बुलाकर पूरी की गई। उनका काम था अपढ़ भारतीय मजदूरों की निगरानी और उन्हें शिक्षित बनाना, किंतु ऐसे अशिक्षित वर्ग से उच्च कोटि के कला-कौशल को जाननेवालों की आशा करना दुराशा मात्र थी। इनसे भारतीय व्यवसाय और उद्योग-धंधों को सुचारु रूप में संचालित करने की आशा कदापि न थी।

फलतः देश की आर्थिक अवस्था गिरती गई। असंतोष बढ़ता गया और उन्नीसवीं शती के समाप्त होते न होते, स्वदेशी और बहिष्कार का वातावरण गरम हो गया। सन् १९०५ में ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार की नीति मान ली गई। बहिष्कार और स्वदेशी ने इस बात की स्पष्ट सूचना दे दी कि उन्नी-

---

desirable that the government be moved to elaborate a system of technical education, suitable to the condition of the country to encourage indigenous manufacture·········and to employ more extensively than at present the skill and talents of the people of the country.

—HISTORY OF EDUCATION IN INDIA.

by S. Nurullah and J. P. Naik, Page 581

१. That having regard to the poverty of the people and the decline of the indigenous industries, the government will introduce a more elaborate and efficient scheme of technical instruction and set apart more funds for a better and more successful working of the same.—*Ibid*, Page 521.

इसी प्रकार मानसिक दासता के विषय में दिनेशचंद्र सेन का कहना है–"एक शताब्दी तक शिक्षित हिंदू पाश्चात्य सभ्यता के चकाचौंध में थे और यह मानने को तैयार नहीं थे कि अतीत में उनकी जाति में भी कोई वस्तु गौरवान्वित और महान् रही होगी। वास्तव में बंगाल––अपने उदार विचार-भंडार के साथ—निकट होते हुए भी दूर था और मिशनरियों के संपर्क में आनेवाले नवीन पीढ़ी के हिंदुओं के लिए, समुद्र और स्थल की दूरी लिए हुए योरप निकट और प्रिय हो गया......। देवता मिट्टी की मूर्ति मात्र रह गए। मन्दिर मलिन और अपवित्र प्रतीत हुए और घर की भव्य सीमा अंधविश्वास की कोठरी बन गई––मिशनरियों की पूरी विजय थी[१]।"

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी की शैक्षिक नीति ने इने-गिने पढ़े-लिखे और असंख्य अपढ़ लोगों के बीच भाव, भाषा, वेष सभी की गहरी खाई उत्पन्न कर दी। शिक्षित वर्ग संवेदन और समानुभूति में जनसाधारण से दिन-प्रतिदिन दूर होता गया। ऐसा होना स्वाभाविक था। कर्नल जर्विस ने १८४७ में इसकी चेतावनी दे दी थी––"अल्पसंख्यक शिक्षित तब तक असंख्य अनपढ़ों को शिक्षित नहीं बनावेंगे जब तक कि असंख्यों की भाषोन्नति द्वारा दोनों में संबंध नहीं बनाए रखा जायगा[२]।"

---

१. For nearly a century the enlightened Hindus were dazzled by the glare of western civilization, and showed no inclination to admit that any thing could have been noble or great in the past of their own nation........ In fact Bengal with her wealth of noble ideas lay far off, though so near and Europe removed from us by land and sea became nearer and dearer to the new generation of Hindus who came in touch with the missionaries.........The gods had now become to them mere earthen clay, the temples were unholy and hallowed precincts of their homes a hole of superstition......The victory of the missionaries was complete.

—HISTORY OF BENGALI LITERATURE by D. C. Sen, Page 853-56.

२. As early as 1847 Colonel Jervis had sounded a warning to the effect that the educated few would no educate the igno-

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मातृभाषा की रक्षा और उन्नति के लिए प्रार्थनाएँ हुईं किंतु शिक्षा की नीति न बदली। हिंदी के उन्नीसवीं शताब्दी (उत्तरार्द्ध) के सभी प्रमुख साहित्यिकों ने मातृभाषा के महत्त्व और उसकी उन्नति के लिए लोगों को उद्बोधित किया है।

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी अँगरेजी जाननेवालों का युग बना, अँगरेजी का वेग से प्रचार बढ़ा और युनिवर्सिटियों की स्थापना से अँगरेजी संस्कृति में लोगों को विश्वास दृढ़ हुआ। अँगरेजी औचित्य की कसौटी बनी[१] और पाश्चात्य शिक्षा से पाश्चात्य रंग-ढंग का अनुकरण शुरू हुआ। इस शताब्दी में अँगरेजीदाँ प्रधान हुए और उन्हीं का बोलबाला था। यद्यपि इसके चतुर्थ चरण में आर्यसमाज और थियोसाफिकल सोसायटी ऐसी संस्थाओं की स्थापना हो चुकी थी जिनके द्वारा आगे चलकर मानसिक दासता की शृंखला कुछ शिथिल पड़ी।

यह उन्नीसवीं शताब्दी की विशेषताओं का अत्यंत संक्षिप्त शब्दचित्र है। हिंदी-साहित्य इसके प्रभाव से अछूता न बच सका। हिंदी के प्रमुख साहित्यकारों ने केवल इसका स्वागत या अध्ययन ही न किया, प्रत्युत साहित्य के बीच इसकी झलक दिखाते हुए इसपर अपने व्यक्तित्व की छाप भी डाल दी। हिंदी के साहित्यकार उन्नीसवीं शताब्दी से प्रभावित होते हुए भी अपने और साहित्य के स्वतंत्र व्यक्तित्व की रक्षा में कृतकार्य हुए। साहित्य के बीच उन्नीसवीं शती का स्वागत करते हुए भी उन्होंने उसका अंधानुसरण न किया और जहाँ उनको विपदा का आभास मिला वहाँ लोगों को सावधान करते हुए चेतावनी भी दी। इस प्रकार इन लोगों ने देशसेवा और साहित्य-सेवा दोनों की। भारतेंदु-युग का काव्य इसी की कथा कह रहा है।

---

rant many unless the connection between them was kept up by fostering the languages of the many.

—HISTORY OF EDUCATION IN INDIA by S. Nurullah and J. P. Naik, Page 184.

१. The test of being on the right side of the gulf was English education.

—CULTURAL HISTORY OF BRITISH INDIA by A. Yusuf Ali.

सदी शती की प्रार्थना और आलोचना का युग बीत चुका और अब प्रस्तावों के स्थान पर क्रियाशीलता का समय आ गया है। राजनीतिक क्षेत्र के समान आर्थिक क्षेत्र में भी आत्मसम्मान और आत्मनिर्भरता की भावना का प्रवेश हुआ।

शासन की आर्थिक नीति के समान उसकी शैक्षिक नीति भी संतोषप्रद न थी। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में शिक्षा के क्षेत्र में यद्यपि उड (Wood) का एडुकेशन डिसपैच, यूनिवर्सिटी की स्थापना और एडुकेशन कमीशन का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, फिर भी उसमें कुछ त्रुटियाँ थीं। वस्तुतः बेंटिंक की नीति का पालन हो रहा था। शिक्षा-प्रसार का उद्देश्य बताते हुए भी अधिकारियों ने उच्च शिक्षा का माध्यम किसी देशी भाषा को न बनाकर अँगरेजी को ही रखा। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि उच्च शिक्षा केवल कुछ इने-गिने लोगों तक परिमित रही।

भाषा-वैभिन्न्य के साथ-साथ शिक्षा की योजनाएँ भी देश की परंपरा और परिस्थिति के अनुरूप न होकर इँगलैंड की शिक्षा-पद्धति की अनुकृति मात्र थीं। सन् १८३५ से एक डाइरेक्टर के बाद दूसरे डाइरेक्टर ने अपने-अपने प्रांत में ऐसी शिक्षा-योजना प्रचलित की जिसका प्रयोग उसने अपने विद्यार्थी जीवन में देखा था। इस प्रकार देश में ऐसी शिक्षा-पद्धतियों के लिए आग्रह दिखाया गया जो पिछड़ी हुई थीं और इँगलैंड जिन्हें बहुत पहले त्याग चुका था। इस प्रकार शासन की शिक्षा-नीति एक शती से अधिक समय तक इँगलैंड की त्याज्य शिक्षा-पद्धतियों और आदर्शों की अंधानुकृति मात्र रही।

उच्च शिक्षा के क्षेत्र में अँगरेजी ने केवल देशी भाषाओं को अपदस्थ ही नहीं किया, परन्तु यहाँ के दर्शन, कला और समस्त भावलोक को हटाकर इँगलैंड के भाव-संसार को उसका स्थानापन्न बना दिया। फलतः यहाँ की अँगरेजी शिक्षा का आधार यहाँ की संस्कृति न रहकर विदेशी संस्कृति बनी और इस प्रकार स्कूल घर की संस्कृति का परिष्कार और विकास न बनकर छः घंटे का—जिसमें ऐसी भाषा सुनी जाती थी जो जीवन की भाषा से अलग थी और ऐसी घटनाओं का वर्णन सुना जो उसके अनुभव से दूर थे—अवास्तविक स्वप्न बन गया। अँगरेजी शिक्षा ने ऐसे रीति-विचारों के प्रति शिक्षार्थियों

को श्रद्धालु बनाया जिनका उनके जीवन से कोई घनिष्ठ सम्बन्ध न था। यह सभी जानते हैं कि विद्यार्थी के लिए उसका स्कूल ही आदर्श-लोक बन जाता है। अतः किताबी दुनिया के उन पशु-पक्षियों के प्रति वह आकृष्ट हुआ जिनको उसने कभी देखा ही न था। उन व्यक्तियों, विचारों और आदर्शों से प्रभावित हुआ जो उससे दूर थे। इस प्रकार अनदेखी किताबी दुनिया उसका आदर्श बनी और वास्तविक गृह अप्रधान और अरुचिकर बन गया। घर और गृह-संस्कृति से उसका संबंध टूट सा गया क्योंकि घर की परिस्थिति और स्कूल के वातावरण में आकाश-पाताल का अंतर था। इस प्रकार अँगरेजी पढ़ा-लिखा युवक अपने घर से दूर होता गया। अँगरेजी का सब से बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि उसकी भावनाओं और संवेदनाओं का आधार-केंद्र ही बदल गया। वह बिना कारण जाने ही—अपनी मातृभाषा, माता-पिता के वेष, उनके रीति-विचार, परंपरा तथा उनके परम प्रिय धर्म के प्रति लज्जा का अनुभव करने लगा। इस प्रकार अँगरेजी की शिक्षा से एक ऐसा वर्ग तैयार हुआ जो देश की संस्कृति को हेय दृष्टि से देखने लगा और जिसे यहाँ के विचार और वस्तुओं के प्रति कोई सहानुभूति न थी।

शिक्षित वर्ग की यह उदासीनता और मानसिक दासता देश के विलक्षण नेता, विचारशील विद्वान् और प्रतिभाशाली कवियों तथा साहित्यिकों से छिपी न थी। उन्होंने इस संबंध में अपना क्षोभ प्रकट किया। लाला लाजपतराय, अक्षयकुमार दत्त, दिनेशचंद्र सेन, भारतेंदु हरिश्चंद्र और 'प्रेमघन' आदि के हृदयोद्गार स्थान-स्थान पर मिलते हैं। अक्षयकुमार दत्त का कहना है—"ये लोग जन्मभूमि की हीन अवस्था को हटाने का यत्न नहीं करते, उसके प्रति अनादर करते हैं। जननी के जीर्ण शरीर को स्वस्थ नहीं करते, उसके प्रति अश्रद्धा करते हैं। क्या कोई अन्य व्यापार इसकी अपेक्षा हृदय को विदीर्ण करनेवाला है[1] ?"

---

१. जननी जन्मभूमिर हीन अवस्था मोचनेर यत्न ना करिया ताहार प्रति अनादर करा। जननीर जीर्ण शरीर सुस्थ ना करिया ताहार प्रति अश्रद्धा करा—इहा अपेक्षा हृदय विदीर्णकारी व्यापार आर कि आछे।
HISTORY OF POLITICAL THOUGHT FROM RAM MOHAN ROY by B. Mazumdar, Page 146.

भारतेंदु-काव्य

पिछले पृष्ठों में उन्नीसवीं शताब्दी का जो संक्षिप्त विवरण दिया गया है उससे इस बात का संकेत मिल जाता है कि वह शताब्दी कितनी समृद्ध और अनेकरूपात्मक थी। दो संस्कृतियों के संपर्क से जिस संघर्ष और सामंजस्य की भावना का उदय हुआ उसके फलस्वरूप देश और जीवन के विविध क्षेत्रों में कई प्रकार की विचारधाराओं का संगम देखने को मिलता है जिससे इस शताब्दी का इतिहास अत्यंत महत्त्वपूर्ण और रोचक बन जाता है।

इससे भी अधिक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण उस समय का साहित्य है, क्योंकि उसमें इस शताब्दी की वस्तुस्थिति और वातावरण की झलक सुरक्षित है। भारतेंदु-साहित्य से उस युग की सूचना पूरी-पूरी मिल जाती है। इसका सबसे प्रमुख कारण यह है कि इस समय के साहित्यकार कोरे साहित्यिक न थे। इस बात को इस तरह भी कहा जा सकता है कि इनके लिए साहित्य की परिधि और परिभाषा अत्यंत व्यापक थी जिसमें समग्र जीवन आ आता था। भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुंद गुप्त प्रभृति साहित्यकार अत्यंत संवेदनशील और जागरूक थे। उस समय के प्रमुख नेताओं के समान इनका हृदय भी भारत की उन्नति में रत था। यही कारण है कि समान भावों से नेताओं की वाणी और तत्कालीन साहित्य स्पंदित हुआ है। यदि गोखले सदृश नेता ब्रिटिश राज्य की सराहना करते थे[1] तो भारतेंदु भी "ईस कृपा अंग्रेज राज पायो सुखदानी" कहते थे। यदि गोखले पार्लमेंट में भारतीय प्रतिनिधित्व की माँग पेश कर रहे थे, तो 'प्रेमघन' भी कहते थे "नहि उपाय इहिं के सिवाय कुछ और अहै अब, राजसभा में पहुँचि

१· Its members frankly accept the British connection as ordained in the inscrutable dispensation of Providence for Indian's good.

—PREAMBLE OF S. I. SOCIETY CONSTITUTION Laid by Gokhale.

दुःख निज गाय कहैं सब"[१]। यदि भारतीय नेताओं ने प्रेस-ऐक्ट और आर्म्स-ऐक्ट के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई[२]—तो हरिश्चंद्र ने यह कहकर क्षोभ प्रकट किया कि "सबहि भाँति नृप-भक्त जे भारतवासी लोक। शस्त्र और मुद्रण विषय करी तिनहुँ की रोक।"[३] यदि भारतीय नेता ब्रिटेन द्वारा आर्थिक शोषण की कटु भर्त्सना कर रहे थे तो 'प्रेमघन' उनकी यह कहकर आलोचना कर रहे थे कि "भारत में संपति की दिन-दिन होत क्षीनता।" और "सुख सुकालहू जिनहिं अकालहि के सम भारत, कई कोटि जन सदा सहत भोजन की सासत।"[४] प्रतापनारायण मिश्र भी आर्थिक शोषण से भारतीय दारिद्र्य का संकेत यह कहकर देते हैं कि "सब धन ढोयो जात विलायत, रह्यो दलिद्दर छाइ।"[५] यदि कांग्रेस औद्योगिक शिक्षा (Technical education) पर जोर दे रही है तो प्रेमघन भी बार-बार कह रहे हैं कि "तासों सिच्छा सिल्प कृपा करि देउ इन्हें अब।"[६] एक ओर यदि हमारे नेता नित्य प्रति बढ़ते हुए फौजी खर्च की कटु आलोचना कर रहे थे तो बालमुकुंद गुप्त उनकी वैज्ञानिक सीमा (Scientific frontier) की नीति की यह कहकर निंदा कर रहे थे कि जिसके लिए लोहे की सीमा बनाने की चिंता हो रही है वह भारत तो भूखा मर रहा है।

> "बाबा उनसे कह दो जो सीमा की रक्षा करते हैं,
> लोहे की सीमा कर लेने की चिंता में मरते हैं।
> प्रजा तुम्हारी दीन दुखी है रक्षा किसकी करते हो।"[७]

यदि भारतीय नेता इस बात से क्षुब्ध थे कि भारतीय सीमा के बाहर के (अफगान) युद्ध का आर्थिक बोझ भारत पर अन्यायपूर्वक लादा जा रहा है और उन युद्धों से भारत का कोई सरोकार नहीं, तो हरिश्चंद्र जी इसी का रोना

---

१. 'नागरी नीरद', ८ सितंबर १८९२।

२. "बनर्जी महाशय ने यह कहकर उसका विरोध किया था कि इससे भारतीयों की राजनीति पर धब्बा लगता है।"—आचार्य नरेंद्रदेव।

३. 'भारतेंदु-ग्रंथावली', पृ० ७९५। ४. 'हार्दिक हर्षादर्श'।

५. 'होता है'। ६. 'स्वागत', पृष्ठ २। ७. स्फुट कविता, ६४।

रो रहे हैं कि हम भारतीय तो केवल युद्ध का खर्च भरने को हैं, युद्ध से लाभ उठाने के लिए नहीं। इसी प्रकार यदि हमारे नेता समाज-सुधार की आवश्यकता का अनुभव कर रहे हैं तो प्रेमघन भी कह रहे हैं कि "आवश्यक समाज-संशोधन करो न देर लगाओ।"

इन लेखकों के ऐसे उद्‌गार केवल काव्य तक सीमित नहीं हैं। कविता की अपेक्षा गद्य में उनकी इस प्रकार की विचारधारा का विस्तार से उल्लेख मिलता है। उस समय की पत्र-पत्रिकाओं के पन्ने इस बात के प्रमाण हैं कि इन साहित्यकारों की चिंतन-धारा उस युग से कितनी प्रभावित हुई थी और ये संप्रति विचारों तथा युग की यथार्थता से पूर्णतया परिचित थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेंदु-साहित्य अपने युग की पूरी सूचना देता है। उन्नीसवीं शताब्दी का भारतेंदु-युग के साहित्य पर पूरा प्रभाव है।

इस प्रभाव को स्वीकार करते हुए भी यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इस प्रभाव की भी अपनी सीमा है और यहीं तक भारतेंदु-साहित्य की व्याप्ति या समाप्ति नहीं है। भारतेंदु-साहित्य जहाँ युग के प्रभाव की सूचना देता है वहाँ साहित्यकारों के स्वतंत्र व्यक्तित्व और विचारों का संकेत भी दे रहा है। इन साहित्यकारों ने साहित्य को इन नेताओं का अनुवर्ती नहीं बनाया और न वे स्वयं अंधानुकरण में प्रवृत्त हुए, यद्यपि वे इनका आदर करते थे, अपने विचार-स्वातंत्र्य के कारण ये साहित्य की स्वतंत्रता बनाए रखने में समर्थ हुए। फलतः भारतेंदु-साहित्य उन्नीसवीं शती की प्रतिध्वनि मात्र नहीं है। इसकी अपनी विशेषताएँ भी हैं।

भारतेंदु-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी सर्वांगीणता। इस समय का साहित्य सर्वतोमुखी है और उसकी परिधि अत्यंत व्यापक है। नवीन तथा प्राचीन दोनों का संस्कार और समावेश भारतेंदु-साहित्य में है। भारतेंदु-साहित्य ने प्राचीन काव्य-भाषा ब्रजभाषा का संस्कार किया और परंपरा-प्राप्त भावों को सँवारा-सजाया। इसके साथ-साथ नवीन परिस्थिति-जन्य नूतन, राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षिक भावों के प्रचार और प्रसार में योग दिया। इस प्रकार भारतेंदु-युग के लेखकों ने एक ओर

काव्य में चलती हुई परंपरा की परिपाटी का निर्वाह तथा शृंगार, नीति, धर्म आदि से समन्वित काव्य का विकास किया और दूसरी ओर देशभक्ति और उससे जुटे हुए सामाजिक तथा सांस्कृतिक भावनाओं से युक्त नूतन काव्य को जन्म दिया।

हिंदी-साहित्य के विविध अंगों की पूर्ति का प्रयास भी इसी समय किया गया। भारतेंदु हरिश्चंद्र और उनके सहयोगियों ने नाटक-रचना में हाथ लगाया और इस प्रकार हिंदी में नाटकों के युग का आरंभ हुआ। इसके पहले नाटकों का अभाव सा था। इसी प्रकार भारतेंदु के सहयोगियों ने उपन्यासों के प्रणयन और अनुवाद में हाथ लगाया और एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति की। निबंधों का श्रीगणेश भी इसी समय हुआ और प्रायः सभी बड़े लेखकों ने निबंध लिखकर हिंदी गद्य में विविध शैलियों का प्रचलन किया।

नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, निबंध आदि के द्वारा हिंदी-साहित्य का भांडार भरा गया। इस प्रकार हिंदी गद्य का जो विकास हुआ वह तो महत्त्वपूर्ण है ही, किंतु इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण और रोचक है समाचार-पत्रों का प्रकाशन। इन समाचारपत्रों के द्वारा एक ओर तो गद्य को प्रोत्साहन मिला और दूसरी ओर देश में नवीन चेतना और जागर्ति हुई। भारतेंदु-युग के सभी प्रमुख लेखक समाचारपत्रों के महत्त्व को जानते थे और प्रायः अधिकांश ने कई समाचारपत्रों का बड़े उत्साह और सफलता के साथ संपादन किया था। ये समाचारपत्र देश और साहित्य दोनों की साधना और सेवा में लगे थे। साहित्य और जनता के बीच उन्नीसवीं शताब्दी के नूतन विचारों की व्यापक प्रतिष्ठा इन्हीं के कारण संभव हो सकी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेंदु-युग साहित्यिक पुनरुत्थान का युग है। इस समय साहित्य की जैसी सर्वतोमुखी उन्नति हुई वैसी कम हुई है। काव्य, नाटक, उपन्यास, निबंध आदि की जैसी अनेकरूपता और विविधता इस समय देखने को मिलती है वैसी अन्यत्र नहीं। इस प्रकार भारतेंदु-युग का साहित्यिक पुनरुत्थान उन्नीसवीं शताब्दी का महत्त्वपूर्ण अंग बन गया। उन्नी-

सवीं शती जिस प्रकार अपने राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक परिवर्तन तथा विचारों के लिए महत्त्वपूर्ण है उसी प्रकार साहित्यिक जागरण के लिए भी। उन्नीसवीं शताब्दी के समान उस समय का साहित्य भी कई दृष्टियों से रोचक तथा महत्त्वपूर्ण है।

भारतेंदु-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता जो लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करती है वह है लेखकों की यथार्थवादी मनोदृष्टि। लेखकों की यथार्थवादिता की यह प्रवृत्ति यों तो साहित्य में सभी स्थलों पर दृष्टिगोचर होती है, फिर भी काव्य की अपेक्षा गद्य ही इसका प्रमुख माध्यम बना और गद्य के क्षेत्र में भी पत्र-पत्रिकाओं द्वारा इसका प्रस्फुटन हुआ। ऐसा होना अत्यंत स्वाभाविक भी था। उन्नीसवीं शताब्दी दो संस्कृतियों का संघर्षकाल तथा संक्रांतिकाल था और भारतेंदु-काल के प्रमुख साहित्यिक इस परिस्थिति से पूर्णतया अवगत थे। वे अच्छी तरह जानते थे कि उनके सामने परिवर्तन का युग है। उन्होंने समय के होनेवाले उलटफेर को देखा था और वे इस परिवर्तनशील (या परिवर्तित) परिस्थिति का अनुभव कर रहे थे। अपने विचारों के अनुसार कहीं पर उन्होंने इसका स्वागत किया, कहीं वे इससे आश्चर्य-चकित हुए और कहीं पर उन्होंने क्षोभ भी प्रकट किया। हरिश्चंद्र, प्रेमघन, बालमुकुंद गुप्त आदि प्रमुख साहित्यिकों की कृतियों के अध्ययन से यह साफ झलकता है कि वे समय के इस परिवर्तन से न तो अपरिचित थे और न उदासीन, प्रत्युत वे अत्यंत सतर्कता से इसकी गति को परखने की चेष्टा कर रहे थे। इसके साथ-साथ इस शताब्दी के प्रचलित विचारों ने भी विद्वान् नेता और साहित्यिकों को छानबीन, परामर्श तथा वाद-विवाद के लिए बाध्य किया। सभी जानते थे कि यह सब काव्य के द्वारा संभव नहीं है और इसी से भारतेंदु-काल के साहित्यिकों ने काव्य के बीच यथार्थवादिता का परिचय देने के साथ-साथ पत्र-पत्रिकाओं में इसका दिग्दर्शन कराया। भारतेंदु-युग के लेखक जिस उत्साह से पत्र-पत्रिकाओं में सामयिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा विविध प्रकार की दैनिक समस्याओं के विश्लेषण तथा विवेचन में प्रवृत्त हुए उससे (जनरुचि भी यथार्थता की ओर उन्मुख हुई और) साहित्य के बीच

यथार्थता का प्रसार हुआ। फलतः युग की प्रवृत्तियों का साहित्य में समावेश हुआ। देशदशा तथा सामाजिक चित्रण और आर्थिक दुरवस्था का जो वर्णन काव्य और गद्य में मिलता है वह लेखकों की यथार्थवादी मनोदृष्टि का परिचायक है। इसका परिणाम यह हुआ कि यथार्थवादिता, साहित्य के बीच धीरे-धीरे प्रमुख प्रवृत्ति बन गई जिसने आगे चलकर ऐहिकतापरक साहित्य को खूब प्रोत्साहन दिया। रसात्मकता के संचार के साथ-साथ प्रभावोत्पादक यथार्थ चित्रण और वर्णन साहित्य के महत्त्वपूर्ण अंग बन गए।

यथार्थवादी मनोदृष्टि का दूसरा संकेत भाषा-द्वंद्व में मिलता है। गद्य को अपनाने के साथ खड़ी बोली भी गृहीत हुई। इस खड़ी बोली के माध्यम से जीवन की समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया जाने लगा। इस प्रकार गद्य की भाषा अर्थात् खड़ी बोली साहित्य-क्षेत्र के बीच एक प्रकार से जीवन की भाषा बन गई। धीरे-धीरे भारतेंदु-युग के (उत्तर-काल के) लेखकों को यह अत्यंत अस्वाभाविक और कृत्रिम प्रतीत होने लगा कि काव्य एक भाषा में रचा जाय और गद्य दूसरी भाषा में लिखा जाय। भारतेंदु-काल के अंतिम वर्षों में भाषा-संबंधी आंदोलन ने सभी प्रमुख साहित्यिकों का ध्यान आकृष्ट कर लिया था और सभी को इस संबंध में कुछ न कुछ लिखना और कहना पड़ा। अंत में गद्य की भाषा खड़ी बोली काव्य-भाषा के पद पर प्रतिष्ठित हुई। यह घटना भी भारतेंदु की बढ़ती हुई यथार्थवादी प्रवृत्ति का संकेत इस रूप में दे रही है कि उस समय एक कृत्रिम और अस्वाभाविक स्थिति का निराकरण कर उसे स्वस्थ स्वाभाविक रूप में रखने की चेष्टा की गई। भाषा-संबंधी इस परिवर्तन का संपूर्ण साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार भारतेंदु-साहित्य के बीच यथार्थवादी प्रवृत्ति का प्रमुख स्थान मान लेने पर इतना और कह देने की आवश्यकता प्रतीत होती है कि यह यथार्थवादिता 'वाद' के रूप में उस समय तक नहीं गृहीत हुई थी। इसलिए भारतेंदु-युग के लेखकों को वाद की सांप्रदायिक तथा संकीर्ण परिभाषा से बाँध-कर नहीं रक्खा जा सकता। उनको यथार्थवादी इसलिए कहा गया कि वे वस्तुस्थिति की यथार्थता से परिचित थे और उसका वे अपने काव्य में चित्रण तथा वर्णन भी कर रहे थे। उनको यथार्थवादी इसलिए भी कहा गया है कि

ये युग की आवश्यकताओं और वास्तविकताओं को समझते थे और उनको वे साहित्य में उचित स्थान दे रहे थे। उनको यथार्थवादी इसलिए भी कहा गया है कि उनकी दृष्टि रस-संचार के साथ भौतिकता तथा ऐहिकता की ओर भी थी। इससे आगे इन लेखकों की यथार्थप्रियता नहीं बढ़ती। इसलिए इनको कोरा या पूरा यथार्थवादी कहना उपयुक्त नहीं। सच तो यह है कि युग की गतिविधि और आवश्यकताओं ने इनको यथार्थवादी बना दिया था। तत्कालीन ऐहिक प्रवृत्तियों का स्वागत करते हुए भी ये सब प्राचीनता के पोषक और पुजारी थे। ये समाज में आमूल परिवर्तन के पक्षपाती न होकर केवल कुछ आवश्यक सुधार और संशोधन के समर्थक थे। वास्तव में ये प्राचीन समाज, संस्कृति तथा आदर्श की रक्षा चाहते थे। इन कवियों को इस बात का क्षोभ था कि देशवासी अपने प्राचीन आदर्शों को भुला बैठे हैं और इसी से इन कवियों के काव्य में वर्तमान समय में प्राचीन संस्कृति तथा आदर्शों के अभाव का करुण क्रंदन मिलता है। इनके काव्य के अध्ययन से इन साहित्यकारों की प्राचीन-प्रियता तथा आदर्शवादिता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

नवीनता के स्वागत और प्राचीनता के प्रति प्रेम की प्रवृत्ति के साथ-साथ होने के कारण इन लेखकों को यथार्थवादी या आदर्शवादी (प्राचीनवादी) कहना इनके साथ अन्याय होगा। इनको किसी एक कोटि में रखकर सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। वास्तव में इन कवियों का ध्येय संघर्ष न होकर सामंजस्य था। इसलिए यदि हम चाहें तो भारतेंदु-युग के साहित्यकारों को 'सामंजस्यवादी' कह सकते हैं।

भारतेंदु-काल के लेखकों का व्यक्तित्व ही सामंजस्य-प्रिय था। इसी कारण अधिकांश वस्तुस्थिति तथा वातावरण में इनकी प्रतिक्रिया सामंजस्यवादिनी थी। उनका यह दृष्टिकोण किसी क्षेत्र-विशेष में ही नहीं लक्षित होता, प्रत्युत देश, समाज तथा साहित्य सभी में स्पष्ट रूप से वर्तमान है। उनकी यह संतुलित भावना जहाँ एक ओर अतिवाद से उनकी रक्षा करती है वहाँ दूसरी ओर उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व की भी सूचना देती है। इन लेखकों ने किसी का अंधानुकरण न कर अपने विवेक से काम लिया है और सम्यक् त्याग और

ग्रहण की बुद्धि से अनावश्यक तथा हानिकारक बातों की निंदा तथा आलोचना की है और आवश्यक वस्तुओं के स्वागतार्थ प्रशंसा भी की है, क्योंकि इनका ध्येय दलबंदी न होकर हित-चिंतन था। इसी से इनके उद्‌गारों में दो विरोधी तत्त्वों को देखकर शीघ्रता से अपरिपक्व निर्णय न दे देना चाहिए कि ये लोग चाटुकार थे या इनमें निर्भीकता न थी। उदाहरण के लिए हम देखते हैं कि ये लेखक एक ओर तो राज्याधिकारियों के प्रति राजभक्ति के प्रदर्शन से नहीं थकते और दूसरी ओर देशभक्ति के भावों से ओत-प्रोत होकर कभी वर्तमान दुर-वस्था पर आँसू बहाते हैं, कभी प्राचीन सभ्यता का स्मरण दिलाते हैं और कभी देशवासियों का उद्‌बोधन कर रहे हैं। राजभक्ति के आवेश में हरिश्चंद्र चुनौती दे रहे हैं कि 'डिसलायल हिंदुन कहत, कहाँ मूढ़ ते लोग।'[1] और 'प्रेमघन' भी कह रहे हैं कि 'राजभक्त भारत सरिस, और ठौर कहुँ नाहिं।'[2] इसी प्रकार देशभक्ति से भरकर ये लोगों को अतीत-गौरव का ध्यान दिलाते हैं और प्रभु से 'पुनि भूतल अवतरिए'[3] की प्रार्थना कर रहे हैं। राजभक्ति और देशभक्ति का स्वर-संयोग कुछ लोगों को बेसुरा सा प्रतीत होता है और उनको आश्चर्य में डाल देता है। लेकिन बात ऐसी नहीं है। वह युग ही ऐसा था जिसमें राजभक्ति और देशभक्ति में सामंजस्य संभव था। दादाभाई नौरोजी और गोखले ऐसे नेता—जिनकी देशभक्ति के विषय में किसी को संदेह नहीं हो सकता—एक ओर ब्रिटिश राज्य को ईश्वर की कृपा का परिणाम समझकर उसका स्वागत कर रहे थे और दूसरी ओर जनता का उद्‌बोधन करते हुए उसी ब्रिटिश शासन की कटु आलोचना भी कर रहे थे। इसी प्रकार साहित्य के नेता भी समय की गतिविधि को समझते हुए कभी आवेदन-निवेदन करते थे और कभी असंतोष की व्यंजना। राजभक्ति का प्रदर्शन इसलिए किया जा रहा था कि उनको ब्रिटेन से बड़ी आशाएँ थीं और उनकी समझ में बुराइयों के रहते हुए भी ब्रिटिश शासन कई दृष्टियों से आवश्यक था। इसी से वे चाहते

१. 'भारतेंदु-ग्रंथावली', पृष्ठ ७६४।

२. 'आर्याभिनंदन', पृष्ठ ६।

३. 'भारतेंदु-ग्रंथावली', पृ० ६८४।

थे कि ब्रिटिश शासन के बीच समय का अधिक से अधिक सदुपयोग हो। इसी से प्रेमघन बराबर कह रहे हैं कि "ब्रिटिश राज स्वातंत्रमय समय व्यर्थ न बैठि बिताओ,"[1] और हरिश्चंद्र उन देशी रियासतों पर क्रुद्ध रहे हैं जो ऐसा शांत समय पाकर भी उन्नति नहीं कर रही हैं—"अँगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़।"[2] इसलिए हम यह नहीं कह सकते कि ये लेखक देश-प्रेम से विहीन थे या चाटुकार थे। वास्तव में उस परिस्थिति में यही संभव और श्रेयस्कर था कि एक ओर अधिकारियों से अधिकारों की प्रार्थना की जाय और दूसरी ओर जनता में जागर्ति की जाय और देशभक्ति की भावना जगाई जाय। देश के गण्यमान नेताओं ने यही किया और भारतेंदु-युग के लेखकों ने भी इसी मार्ग को अपनाया।

इसी प्रकार की दृष्टि आर्थिक क्षेत्र में भी लक्षित होती है। भारतेंदु-युग के प्रमुख कवि एक ओर भारत की आर्थिक दशा सुधारने की प्रार्थना करते हैं और दूसरी ओर ब्रिटिश शासन के बीच भारत की दरिद्रता की कटु आलोचना करते हैं। सभी प्रमुख लेखक यह चाहते हैं कि औद्योगिक शिक्षा मिले। शिल्प की शिक्षा मिले जिससे भारत की विपन्न दशा का कुछ सुधार हो, क्योंकि शिल्पोन्नति के बिना देशोन्नति कहीं नहीं देखी गई।[3] वे यह भी चाहते हैं कि किसान को कृषि-कर्म की शिक्षा दी जाय जिससे वह इतना दयनीय न बना रहे। उसको वैसी ही शिक्षा दी जाय जैसी विलायत में मिलती है "तिनहिं सिखावहु कृषी-कर्म जस होत विलायत। करि सहायता और सुखी करि देहु यथावत।"[4] भारतेंदु हरिश्चंद्र तो यह सुझा रहे हैं कि लोग विलायत से पढ़कर कला आदि सीखकर आवें।[5] इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर ये लेखक अधिकारियों से प्रार्थना करते हैं कि वे शासन करें 'केवल भारत के हित-

---

१. 'आनंदअरुणोदय'। २. 'भारतेंदु-नाटकावली', पृष्ठ ६१।

३. विद्या-उन्नति भई शिल्प की उन्नति नाहीं।
देशोन्नति जाके बिन जग में कहुँ न लखाहीं।—स्वागत, पृष्ठ ५।

४. 'स्वागत', पृष्ठ ४।

५. "यह सब कला-अधीन है तामें इतै न पंथ।
....

साधन में दीने चित।' लेकिन प्रार्थना करते हुए भी उनकी आँखें बंद नहीं हैं। इसी से वे भारत की दिन-प्रति-दिन बढ़ती हुई दरिद्रता का उत्तरदायित्व ब्रिटिश शासन पर रखते हैं और उसकी कटु आलोचना करते हैं। सभी प्रमुख लेखकों ने भारत की गरीबी पर अपने उद्‌गार प्रकट किए हैं जिनमें उनके हृदय की सफाई छिपी हुई है। हरिश्चंद्र को यह अखर रहा है कि इस शासन में धन विदेश जा रहा है "पै धन बिदेस चलि जात इहै अति ख्वारी।"[1] प्रेमघन को ब्रिटिश शासन का सुकाल भी अकाल के समान प्रतीत होता है। "सुख सुकालहू जिनहिं अकालहि के सम भासत।"[2] इसी प्रकार प्रतापनारायण मिश्र देख रहे हैं कि "महँगी और टिकट के मारे सगरी वस्तु अमोली है।"[3] इसी प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिक क्षेत्र के समान आर्थिक क्षेत्र में भी ये लेखक अपनी सामंजस्य-बुद्धि से अवसर की उपयुक्तता को ध्यान में रखते हुए कभी देशवासियों का आह्वान और उद्‌बोधन करते हैं और कभी अधिकारियों से आवेदन (और प्रार्थना की पूर्ति न देखकर) और कभी असंतोप की व्यंजना करते हैं।

यह सामंजस्य-बुद्धि सामाजिक क्षेत्र में और भी स्पष्टता से लक्षित होती है। भारतेंदु-युग के सभी प्रमुख लेखक समाज में प्रचलित कुरीतियों से अवगत हैं और उनकी निंदा करते हैं। यद्यपि दो-एक लेखक इतने ही में अपने कर्तव्य की समाप्ति समझ लेते हैं या तत्कालीन अँगरेजी संस्कृति के कुप्रभाव को इसका मुख्य कारण मानकर दो-चार जली-कटी सुनाकर शांत हो जाते हैं। फिर भी अधिकांश लेखक तत्कालीन फैले हुए सामाजिक दोषों से होनेवाली क्षति का संकेत कर उसके निराकरण के लिए लोगों को सावधान करते हैं। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने सबके पहले छुआछूत की ओर लोगों का ध्यान

अँगरेजी पहिले पढ़े, पुनि बिलायतहि जाय।
या विद्या को भेद सब, तो कछु ताहि लखाय॥"

—'भारतेंदु-ग्रंथावली', पृष्ठ ७३८।

१. 'भारतेंदु-नाटकावली', पृष्ठ ५९८।
२. 'हार्दिक हर्षादर्श'। ३. 'हार्दिक हर्षादर्श'।

आकृष्ट किया। विलायतगमन के निषेध का प्रतिवाद किया। बाल-विवाह आदि सामाजिक कुप्रथाओं के विरोध में अपनी आवाज उठाई और स्त्री-शिक्षा पर जोर दिया। इसी प्रकार सामाजिक कुरीतियों की निंदा कर और आवश्यक तथा श्रेयस्कर वस्तुओं के समावेश का आग्रह कर उन्होंने सामंजस्य-बुद्धि का परिचय दिया। वे स्पष्ट कह रहे हैं कि समाज दो अलग-अलग रंग में है। कुछ तो पुराने विचार के हैं जो पुराण के आगे या बाहर नहीं जा सकते और कुछ ऐसे हैं जिनपर विदेशी संस्कृति का इतना प्रभाव पड़ा है कि वे समाज के बहिर्गत हो रहे हैं या क्रिस्तान बन रहे हैं। हरिश्चंद्र ने आवश्यक नूतन तत्त्वों के समावेश और प्राचीन अनर्गल प्रथाओं की भर्त्सना कर इस विषय की सामाजिक परिस्थिति को सुलझाने की चेष्टा की। न तो उन्होंने प्राचीन समाज का आमूल खंडन किया और न नवीनता को आँख मूँदकर अपनाया। उन्होंने प्राचीन और नूतन परिस्थिति दोनों की अच्छाई और बुराइयों का उद्घाटन कर, अपनी सामंजस्य-बुद्धि का परिचय दिया है। यही चीज अधिक स्पष्टता के साथ 'प्रेमघन' में व्यक्त हुई है। वे सामाजिक रूढ़ियों और अंध विश्वासों की आलोचना करते हुए बार-बार कह रहे हैं कि "प्रचलित हाय अंध परिपाटी पर क्यों चलते जाते।"[1] इसी प्रकार यद्यपि वे अंध परिपाटी की निंदा कर रहे हैं, फिर भी समाज का सर्वथा त्याग उन्हें वांछनीय नहीं है। हरिश्चंद्र के समान वे भी संतुलन चाहते हैं। इसी से वे भी स्थिति के अनुकूल आवश्यक संशोधन और सुधार के पक्ष में हैं। वे चाहते हैं कि आवश्यक सुधार शीघ्रातिशीघ्र हो जाय और इसी से कहते है कि "आवश्यक समाज-संशोधन करो न देर लगाओ।"[2] इसी प्रकार के सामाजिक सामंजस्य का संकेत अन्य लेखकों की रचना में भी मिलता है।

लेखकों की यही सामंजस्य-दृष्टि संपूर्ण साहित्य में भी दिखाई पड़ती है। भाव, भाषा, छंद सभी में प्राचीनता का परिष्कार और नूतनता का समावेश हुआ है। भारतेंदु-युग के सभी प्रमुख लेखकों ने नवीन और प्राचीन के संक्रांति-काल को परखकर अपनी उदार दृष्टि से साहित्य-भांडार की श्री-वृद्धि

---

१. 'आनंदअरुणोदय'। २. 'आनंदअरुणोदय'।

की। छंदों के क्षेत्र में जहाँ अधिकतर कवित्त, सवैया, दोहा और छप्पय का बाहुल्य था वहाँ इन लेखकों ने साहित्य-क्षेत्र के बाहर के छंदों को भी अपनाया। हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी आदि ने लावनी के छंदों का स्वागत कर उनमें रचना की। हरिश्चंद्र और प्रतापनारायण मिश्र की लावनियाँ अत्यंत ललित एवं मधुर हैं। इन दोनों को खड़ी बोली में काव्य का रचा जाना मान्य न था क्योंकि उनका विश्वास था कि खड़ी बोली में मिठास का अभाव है, फिर भी इन दोनों महानुभावों की खड़ी बोली की लावनियाँ अत्यंत श्रुति-मधुर हैं। इसी प्रकार प्रेमघन ने कजली आदि में बहुत अधिक रचना की। ये कजली, लावनी आदि लोक-गीत उसी सामंजस्य-प्रियता की बात कह रहे हैं और इस बात का संकेत दे रहे हैं कि ये लोग साहित्य की साम्प्रदायिक संकीर्ण भावना के बीच बँधे रहनेवाले जीव न थे। साहित्य के घेरे के बाहर यदि कोई माधुर्य, मनोरंजन और सौंदर्य की वस्तु देखते थे तो उसे भी अपनाने के लिए तैयार रहते थे। इसी से प्रेरित होकर जहाँ एक ओर इन लोगों ने साहित्य के प्रचलित छंदों में रचना की वहाँ दूसरी ओर लोकगीतों के कजली, लावनी आदि के छंदों को भी अपनाकर उनको साहित्य में स्थान दिया और इस प्रकार छंदों में व्यापकता और विविधता का समावेश किया।

छंदों से अधिक रोचक भाषा-सामंजस्य की कथा है। यह पहले कहा जा चुका है कि भारतेंदु-युग के उत्तरकाल में खड़ी बोली और व्रजभाषा का द्वंद्व छिड़ गया था और अंत में गद्य की भाषा खड़ी बोली काव्य-भाषा के पद पर आसीन हुई। यहाँ पर इतना कह देना आवश्यक है कि इस आंदोलन का परिणाम चाहे जो कुछ हुआ हो फिर भी भारतेंदु-युग के प्रमुख और प्रतिष्ठित लेखक भाषा के संबंध में सामंजस्यवादी दृष्टिकोण रखते थे। भारतेंदु हरिश्चंद्र, प्रतापनारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी काव्य-क्षेत्र में व्रजभाषा को और गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली को चाहते थे। काव्य-क्षेत्र में खड़ी बोली को चाहनेवाले और उसके समर्थक श्रीधर पाठक भी अपनी व्रजभाषा की रचनाओं के लिए प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार कार्यरूप में उन्होंने भी एक

प्रकार से काव्य-क्षेत्र में व्रजभाषा को ही मान दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतेंदु-युग में अधिकांश समय तक यही सामंजस्यवादी मत मान्य था कि काव्य की रचना परंपरा से चली आती हुई व्रजभाषा में हो और गद्य के विकास के लिए खड़ी बोली को चुना जाय जो उसके लिए उपयुक्त थी और जिसका समावेश अत्यंत आवश्यक था। इस प्रकार भारतेंदु-युग के लेखकों ने परंपरा और आवश्यकता दोनों का ऐसा सम्यक् निर्वाह किया कि किसी की क्षति न हुई और न किसी की बलि चढ़ाई गई।

भाषा-सामंजस्य के साथ-साथ भाव-सामंजस्य के दर्शन भी भारतेंदु-साहित्य में हो रहे हैं। इस युग के लेखकों की भावना अत्यन्त संतुलित थी। इसी से व्यष्टि और समष्टि के बीच न उनके व्यक्तित्व में विरोध था और न उनके साहित्य-सर्जन में। उन्हें अपने समाज-विशेष से भी प्रेम था और समग्र देश से भी। उन्हें अपने को हिंदू कहने में लज्जा का अनुभव नहीं होता था—और न वे भारतवासियों की दुर्दशा से अनभिज्ञ थे। एक ओर वे हिंदुओं की दशा सुधारने को प्रयत्नशील थे और दूसरी ओर संपूर्ण भारत के अभ्युदय के इच्छुक थे। इसी से उस समय के साहित्य में दो धाराएँ बिना किसी विरोध-वैषम्य के समानांतर चलती हुई दिखाई देती हैं। एक धारा तो देश-भक्ति की है और दूसरी हिंदुत्व की।

देशभक्ति से पूर्ण काव्य का संकेत पहले दिया जा चुका है। देशभक्ति के क्षेत्र में इन कवियों ने किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रक्खा। वहाँ पर इनका केवल एक उद्देश्य है और वह है भारत की उन्नति और भारतवासियों की दशा का सुधार। वहाँ पर जाति या वर्णभेद का नाम भी नहीं है। इसी से इनके सुधार-भावना के उद्गारों को हम सांप्रदायिक नहीं कह सकते। जब भारतेंदु हरिश्चंद्र भारत के दुर्भाग्य का रोना रोते हैं और सारे देश को जगाते हैं या अधिकारियों से देश-दशा के सुधार की प्रार्थना करते हैं तब उनके सामने किसी जाति-विशेष या समाज-विशेष के हित का ध्यान नहीं है। उस समय की संपूर्ण जन-संख्या का चित्र उनके सामने रहता है। इसी प्रकार जब प्रतापनारायण मिश्र किसान की दुर्दशा का चित्र खींचते हैं और उसकी

आर्थिक हीनता की विषादमयी व्यंजना करते हैं तब ये यह नहीं सोचते कि यह किसान हिंदू है या मुसलमान। उनकी दृष्टि में वह केवल किसान है जो गरीबी के कारण बेइज्जत होता है। इसी प्रकार जब प्रेमघन यह कहते हैं कि यह वह भूखा किसान है जो सारे जगत् को खिला-पिलाकर जीवित रखता है तो वहाँ पर जाति या वर्ण-भेद का रंच मात्र भी संकेत नहीं है। जब वे अधिकारियों से यह प्रार्थना करते हैं कि उसे कृषि-कर्म की उच्च शिक्षा दी जाय तब उनका यह आशय कदापि नहीं है कि एक जाति का किसान यह शिक्षा पावे और दूसरी जाति का कृषक इससे वंचित रक्खा जावे। इसी प्रकार जब राजनीतिक क्षेत्र में वे स्वत्वों की माँग करते हैं और यह कहते हैं कि पार्लमेंट में भारतीय प्रतिनिधि भेजे जायँ, तब उनका यह मंतव्य नहीं है कि वे प्रतिनिधि हिंदू हों, पारसी न हों। उसके विपरीत जब पारसी जाति के रत्न दादाभाई नौरोजी पार्लमेंट के मेंबर चुने जाते हैं वे सब से ज्यादा प्रसन्न होते हैं और हर्ष मनाते हैं और जब उनपर 'काला' कहकर आक्षेप किया जाता है तो उनको अत्यंत क्षोभ होता है और उसकी व्यंजना वे मर्मपूर्ण शब्दों में करते हैं। उन्होंने यह कभी न सोचा कि यह हिंदू नहीं है, पारसी है, इसलिए यदि इसकी अवहेलना होती है तो हमें क्या। इसी प्रकार जब बालमुकुंद गुप्त, जगत्-जननी से भारत की रक्षा के लिए प्रार्थना करते हैं तो उस समय उनका ध्यान केवल हिंदुओं की ओर नहीं जाता प्रत्युत वे 'तीस कोटि सुत' की ओर से दया की याचना करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि राजनीतिक या देशभक्ति के क्षेत्र में इनकी भावना में सांप्रदायिता की गंध न थी। वहाँ वे समग्र भारत के हित का ध्यान रखते थे और उस समय देश का रहनेवाला उनके लिए हिंदू या पारसी न होकर भारतवासी था।

देशहित की उदार भावना के साथ वे दूसरे क्षेत्रों में भी अपने उत्तरदायित्व को नहीं भूलते थे। वे भारतवासी थे और वे यह भी नहीं जानते थे कि हम हिंदू हैं। जब वे सारे देश को जगाते थे तो यह भी समझते थे कि हम जिस समाज-विशेष के प्राणी हैं उसका उद्बोधन भी हमारा परम पवित्र कर्तव्य है क्योंकि सर्वतोमुखी उन्नति के बिना देश का अभ्युदय असंभव है और सर्वांगीणता में सामाजिक सुधार भी अंतर्हित है। इसी से वे देश को भी

जगाते थे और हिंदुओं को भी जगाते थे। एक ओर वे देश की दुरवस्था पर आँसू बहाते थे और दूसरी ओर सामाजिक अधःपतन पर दुःखी होते थे। एक ओर यदि देश की हीनता और असहाय अवस्था उन्हें कुंठित बनाती थी तो दूसरी ओर सामाजिक अंध विश्वास और कुप्रथाएँ उनको क्षुब्ध करती थीं।

इस संबंध में एक बात और भी ध्यान देने की है। इन कवियों के सामाजिक उद्गारों में कहीं भी उग्रता नहीं दिखाई पड़ती और न किसी समाज के प्रति विद्वेष का लक्षण ही दृष्टिगोचर होता है। ये अपने समाज की उन्नति के अभिलाषी हैं अतः उसी के उद्बोधन में रत हैं। ये केवल इतना ही कहते हैं कि संसार की अन्य जातियाँ आगे बढ़ी जा रही हैं और हम लोग सो रहे हैं। ये अपने समाज को दूसरे समाज का अहित सोचने को नहीं उकसाते हैं। अतः इनकी सामाजिक भावना से किसी समाज को क्षति नहीं पहुँचती। इसलिए अपने समाज या संप्रदाय का हित सोचते हुए भी इनमें सांप्रदायिकता नहीं है और न यह कहा जा सकता है कि सांप्रदायिकता को छिपाने के लिए इनकी देशभक्ति आवरण मात्र है। हम चाहें तो यह कह सकते हैं कि इनकी भावना इतनी उदार थी कि इनके लिए देशभक्ति और (अपने) समाजहित में कोई वैषम्य नहीं उपस्थित होता था और इन्होंने दोनों के बीच सामंजस्य स्थापित कर लिया था।

देशभक्ति के बीच सांप्रदायिकता के प्रश्न के उठने या उठाए जाने के कुछ संभावित कारण हैं। एक कारण तो यह है कि भारतेंदु-युग के लेखक हिंदू हैं। दूसरा मुख्य कारण यह है कि देशभक्ति के भावों को जगाने के लिए भारत के जिस गौरवमय अतीत काल का सहारा लिया गया है वह हिंदू-काल का स्वर्णयुग है और जिन प्रतीकों का उपयोग हुआ है वे हिंदू इतिहास एवं परंपरा के रत्न हैं। इस प्रश्न का उत्तर भी यही है कि हिंदू होने के ही कारण इन कवियों का हिंदू रत्नों की ओर संकेत करना अत्यंत स्वाभाविक था और इसी से इनकी कल्पना हिंदू जीवन और संस्कृति के चित्रण को उन्मुख हुई। फिर भी, जैसा कहा जा चुका है, इनके उद्गारों में उग्रता या

विद्वेष नहीं है और अतीत काल के चित्रण के बीच राम, कृष्ण, अर्जुन, मांधाता आदि जिन व्यक्तियों का नाम लिया गया है उन्होंने भारत का सिर ऊँचा किया है, उसके नाम को डुबाया नहीं।

देशभक्ति और हिंदुत्व की संतुलित भावना के समान ही इन कवियों का अतीत के प्रति संकेत और वर्तमान का चित्रण है। ये ही दोनों इस समय की देशभक्ति के प्रधान आधार हैं। भारतेंदु-युग के कवि कभी वर्तमान दुरवस्था का चित्र खींचकर भारतवासियों को सचेत करते हैं और कभी अतीत के गौरवमय दृश्यों की याद दिलाकर उनको प्रयत्न के लिए उत्तेजित करते हैं। इस युग के सभी प्रमुख कवियों में ये प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। अतीत के संकेतों के बीच कहीं तो ये कवि उन व्यक्तियों का नाम लेते हैं जो हम सबको श्रद्धा के पात्र बन गए हैं या उन स्थलों का इंगित देते हैं जिनके साथ हिंदुओं की मधुर तथा मर्मपूर्ण स्मृतियाँ लिपटी हुई हैं। इस तरह जब हरिश्चंद्र भारत की दशा पर करुण क्रंदन करते हुए यह कहते हैं कि यह वही भूमि है "जहँ भए शाक्य हरिचंद रु नहुष ययाती।" या "काशी प्राग अयोध्या नगरी" और "हा पंचनद हा पानीपत" कहते हैं तो लोगों का ध्यान बरबस गौरवमय अतीत की ओर जाता है और निराशा के बीच भी आशा का संचार होता है। इसी तरह से प्रेमघन, अंबिकादत्त व्यास, प्रतापनारायण मिश्र आदि सभी कवि अतीत का संकेत देते हैं। अतीत के प्रति अनुराग से उद्भूत इनके उद्गार कहीं भारत की भव्यता की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करते हैं, कहीं अप्रकट रूप से उज्ज्वल भविष्य बनाने का संकेत देते हैं और कहीं इन कवियों के अंतर का क्षोभ प्रकट करते हैं। इस प्रकार अतीत का अनुराग काव्य की प्रमुख प्रवृत्ति बन गई।

अतीत के अनुराग और हिंदुत्व की भावना की वृद्धि के लिए इस शताब्दी में पर्याप्त सामग्री भी मिल गई थी। हिंदू इतिहास का अनुसंधान शुरू हो गया था और राजेंद्रलाल मित्र ऐसे विद्वान् प्राचीन भारत का विवरण उपस्थित कर रहे थे। इससे अतीत भारत के प्रति लोगों का ध्यान बरबस चला जाता

---

१ 'भारतेंदु-ग्रंथावली', पृष्ठ ५७८।

था। इसके साथ-साथ थियोसाफिकल सोसायटी भी हिंदू-दर्शन और संस्कृति से पढ़े-लिखों को परिचित करा रही थी और उनपर चढ़े हुए पश्चिमी रंग का प्रभाव कम कर रही थी। इस प्रकार अँगरेजी जाननेवाले युवकों में फिर से प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति सहानुभूति जगी। इसके साथ-साथ आर्य-समाज भी अंगरेजी न जाननेवालों के बीच अपना प्रभाव डाल रहा था। आर्य-समाज वैदिक संस्कृति या प्राचीन हिंदुत्व का स्वरूप सामने रख रहा था और अतीत गौरव के प्रति अभिमान जगा रहा था। इस प्रकार अँगरेजी जाननेवाले या न जाननेवाले सभी लोगों के बीच हिंदू संस्कृति के प्रति अनुराग और गर्व की भावना पनप रही थी। भारतेंदु-युग के कवियों ने अपनी रचनाओं में इसी भावना का प्रतिनिधित्व और प्रदर्शन किया है।

अतीत के प्रति अनुराग के होने पर भी ये कवि वर्तमान की ओर से उदासीन नहीं हैं। इन कवियों में अतीत की ओर उतना ही झुकाव है जितना कि प्रत्येक शिष्ट समाज में स्वाभाविक है। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में देश के उज्ज्वल अतीत के लिए स्थान होता है और जब वर्तमान अवस्था दयनीय हो तब तो कल्पना स्वतः अतीत की ओर प्रवृत्त हो जाती है—पलायन के लिए नहीं वरन् शक्ति प्राप्त करने के लिए भी इन कवियों ने अपने को अतीत के स्वप्नों में भुला नहीं दिया है। वरन् ये कवि तत्कालीन वस्तु-स्थिति के प्रति अत्यंत जागरूक हैं। इन्होंने वर्तमान सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सभी परिस्थितियों को जाँचा और परखा है। उनका विश्लेषण और विवेचन किया है और उनपर विवेकपूर्ण निर्णय देकर अपने हृदय की भावना प्रकट की है। वर्तमान वस्तुस्थिति से उद्भूत इनके उद्गार यह स्पष्ट बतला रहे हैं कि जहाँ इन कवियों को अतीत पर गर्व है वहाँ वर्तमान से क्षोभ है और ये चाहते हैं कि अतीत के समान वर्तमान और भविष्य भी समुन्नत हों। अतीत के संकेतों द्वारा ये वर्तमान दुरवस्था की भावना को और भी तीव्र करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन नूतन प्रवृत्तियों का साहित्य में पूरा समावेश है और भारतेंदु-काल का साहित्य युग का प्रतिनिधित्व भी कर रहा है। भारतेंदु-काल के साहित्य का यह प्रतिनिधित्व केवल सामान्य जीवन के

चित्रण में ही नहीं प्रत्युत इस तथ्य में है कि इस चित्रण में जनसाधारण की मनोदृष्टि प्रतिबिंबित है. लेखकों ने केवल युग की समस्याओं का ही अंकन नहीं किया है प्रत्युत उनसे उद्भूत जनता की प्रतिक्रिया भी प्रदर्शित की है। इस प्रकार भारतेंदु-युग के लेखकों ने जीवन और साहित्य के बीच पड़ते हुए विच्छेद को दूर करने का प्रयास किया। इनसे भी महत्त्वपूर्ण कार्य यह हुआ कि इन कवियों ने अपने जीवन को सामान्य जीवन में बिल्कुल घुला-मिला दिया। ये कवि बड़े उत्साह से जन-जीवन में सम्मिलित होते थे और उस समय किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखते थे। इन कवियों की सजीवता या जिंदादिली की कहानियाँ अब तक प्रसिद्ध हैं। हरिश्चंद्र का लावनीवालों के बीच बैठकर गाना और प्रेमघन तथा प्रतापनारायण मिश्र का मेलों में सम्मिलित होना इसी तथ्य का संकेत करता है। कहने का तात्पर्य यह कि परंपरा-प्राप्त जन-जीवन के प्रति इन कवियों की पूरी सहानुभूति थी और जातीय पर्व, त्योहार और उत्सवों में ये सच्चे हृदय से योग देते थे। इन उत्सवों आदि के प्रति उनका सच्चा अनुराग था और उनके काव्य तथा निबंधों में इसकी व्यंजना पद-पद पर मिलती है। इस संबंध में पं० रामचंद्र शुक्ल का निम्नलिखित कथन युक्तियुक्त है—

"उन पुराने लेखकों के हृदय का मार्मिक संबंध भारतीय जीवन के विविध रूपों के साथ पूरा-पूरा बना था। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में पड़नेवाले त्योहार उनके मन में उमंग उठाते थे। परंपरा से चले आते हुए आमोद-प्रमोद के मेले उनमें कुतूहल जगाते और प्रफुल्लता लाते थे। आजकल के समान उनका जीवन देश के सामान्य जीवन से विच्छिन्न न था। विदेशी अंधड़ों ने उनकी आँखों में इतनी धूल नहीं झोंकी थी कि अपने देश का रूप-रंग उन्हें सुझाई ही न पड़ता।"[1]

जन-रुचि और युगधर्म के प्रति समानुभूति और समावेश के साथ भारतेंदु-साहित्य ने परंपरा का पूरा-पूरा निर्वाह भी किया है और रसात्मकता की सृष्टि भी की है। भारतेंदु-युग के लेखक कोरे प्रचारक न होकर कवि और साहित्यकार

१. 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' (पं० रामचंद्र शुक्ल), पृष्ठ ४९६।

थे, अतः इन्होंने साहित्य की रचना में एकांगिता से काम नहीं लिया है यही कारण है कि भारतेंदु-काव्य में जहाँ नूतन परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं वहाँ परंपरा से आती हुई शृंगारी, नैतिक और धार्मिक धारा का भी विकास देखने को मिलता है। इन कवियों की शृंगारी रचनाएँ इनके जीवन-काल में ही अपना ली गई थीं और इनके संमान का कारण बन गई थीं। इस प्रकार भारतेंदु-काव्य जितना व्यवहारोपयोगी था उतना ही मधुर और सामंजस्यपूर्ण भी। हरिश्चंद्र की सामंजस्यप्रियता के संबंध में कहे गए स्वर्गीय पं० रामचंद्र शुक्ल के ये शब्द भारतेंदु-युग के काव्य के विषय में भी पूर्णतया चरितार्थ होते हैं—

"अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचंद्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र को हँसी उड़ाते और स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुंदर सामंजस्य भारतेंदु की कला का विशेष माधुर्य है......प्राचीन नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था, वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेंदु का उदय हुआ इसमें संदेह नहीं।"[१]

सभी क्षेत्रों में सामंजस्यप्रियता के इस दिग्दर्शन के बाद उसके मूल कारण के संबंध में दो-चार शब्द कहना अप्रासंगिक न होगा। सामंजस्यप्रियता का एक कारण तो भारतेंदु-युग के लेखकों के व्यक्तित्व में मिलता है। ये लेखक जिस समाज के अंग थे उसका आधार ही सामंजस्य है। हरिश्चंद्र, प्रेमघन प्रभुवर्ग की (Propertied class) की श्रेणी के थे और अन्य लेखक मध्यम वर्ग के थे। प्रभुवर्ग की प्रतिष्ठा तथा संमान का आधार भूमि या सत्ता का अधिकार है। इसके बदलते या निकलते ही दबदबा समाप्त हो जाता है और वह पदच्युत हो जाता है। इसलिए सत्ताधारी कभी आमूल

---

१. 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' (पं० रामचंद्र शुक्ल), पृष्ठ ५०७।

परिवर्तन के पक्ष में न होगा, कम से कम उस सत्ता के हटाए जाने के पक्ष में न होगा जिसके कारण या कृपा से उसकी प्रतिष्ठा बनी है। इसी से वह परंपरा का निर्वाह चाहता है और करता है। इसी प्रकार मध्यम वर्ग की सत्ता कमीशन एजेंट की तरह है। बनानेवाले से माल लेकर वह खरीदनेवाले को दे देता है और कमीशन पर जीवित रहता है। वह यह कभी नहीं चाहेगा कि बनानेवाले और खरीदनेवाले का साक्षात्कार हो क्योंकि तब तो उनकी स्थिति ही सकट में पड़ जायगी। इसी प्रकार मध्यम वर्ग—जिसके बहुत से अधिकार उच्च वर्ग की कृपा पर अवलंबित हैं—शासक या शोषक (Exploiter) और शासित या शोषित (Exploited) के बीच की कड़ी है। उनकी सत्ता भी समाज की ज्यों की त्यों (Status quo) स्थिति पर आश्रित है। इसी से वह भी समाज में संशोधन या सुधार तो चाहेगा किंतु आमूल परिवर्तन या क्रांति न चाहेगा। मध्यम वर्ग को मध्यम मार्ग का अवलंब ही इष्ट है। भारतेंदु-युग के अधिकांश लेखक मध्यम वर्ग के थे। इसी से परंपरा-पालन और सामंजस्यप्रियता का एक कारण इन लेखकों के व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक विश्लेषण में भी मिल सकता है।

यह सब लिखने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि इन लोगों ने जो कुछ किया उसका कोई महत्त्व नहीं है, या उसका श्रेय इनको न मिले या इन्होंने यह सब स्वार्थवश किया। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि वे जिस समाज या वर्ग के वातावरण में पले थे उसकी मनोवैज्ञानिक गति सामंजस्य से आगे न थी और उनके व्यक्तित्व पर इस भावना का अप्रकट रूप से प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। वैसे इन लोगों ने उस परिस्थिति में साहित्यिक पुनरुत्थान और जनजागरण के लिए जो कुछ किया वह अत्यंत स्तुत्य है और उसके लिए जितना श्रेय दिया जाय थोड़ा है। भारतेंदु-साहित्य इन लेखकों के उदार व्यक्तित्व और उदार चेतना का स्वतः प्रमाण है।

लेखकों के व्यक्तित्व से अधिक महत्त्व-पूर्ण बात यह थी कि सामंजस्यप्रियता समय की माँग थी। उस स्थिति में इसके बिना काम ही नहीं चल सकता था और उस समय के लिए यही सच्चा प्रगतिवाद था। उन्नीसवीं

शताब्दी में भारत पर एक नई सत्ता और संस्कृति का प्रभाव जम गया था। यह प्रभाव इसलिए विजयी हुआ था कि भारतीय संस्कृति और सत्ता दुर्बल हो चली थी। नए का सर्वथा बहिष्कार असंभव था और प्राचीन की पूर्ण प्रतिष्ठा अव्यावहारिक। ऐसी स्थिति में इस आँधी को रोकने का एकमात्र उपाय यही था कि सम्यक् त्याग और ग्रहण से काम लिया जाय। प्राचीन व्यवस्था में जो बातें हानिकर और अनावश्यक हों उन्हें छोड़ा जाय और नई व्यवस्था के जो लाभप्रद तत्त्व हों उनका समावेश हो। इस सामंजस्य की नीति से भारत और भारतीय संस्कृति का कल्याण संभव था।

उस समय सामंजस्यवाद परिवर्तित वस्तुस्थिति तथा संघर्ष का स्वीकरण था, अतः वह व्यावहारिकता और यथार्थता का परिचायक भी था। सामंजस्य और समझौते की इस नीति से पश्चिम की बढ़ती हुई आँधी को रोकने और अपनी दुर्बल संस्कृति में फिर से बल लाने का साधन प्राप्त हो रहा था और देश में नवीन चेतना और स्फूर्ति लाने के लिए समय मिल रहा था। आगे आनेवाली देश की राजनीतिक लड़ाइयों की तैयारी का युग यही था और इसी नीति के कारण वे राजनीतिक संग्राम आगे चलकर संभव हो सके। सामंजस्यवाद कभी-कभी देश की प्रगति को रोकता भी है। जब कि देश की भावना आगे बढ़ी होती है और प्रतिक्रियावादी आगे नहीं बढ़ने देना चाहते तब वे सामंजस्य के नाम पर उसकी प्रगति को बाँध रखते हैं, किंतु भारतेंदु-युग तक नव चेतना बिलकुल बढ़ी नहीं थी और न जन-भावना समय से आगे की माँग पेश कर रही थी। वह समय तो आरंभिक था, इससे उस समय की समस्या बढ़ती हुई जन-भावना को रोकने की न होकर उसे जगाने की थी। इसलिए उस युग के सामजस्यवाद का संबंध प्रतिक्रियावादियों के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

भारतीय इतिहास का यह समय 'औदार्य (लिबरल) युग' के नाम से प्रसिद्ध है और यह सभी जानते हैं कि औदार्य (लिबरल) वाद की नींव में अतिवाद का तिरस्कार और मध्यम मार्ग का अवलंबन है। दूसरे शब्दों में वे सामंजस्यवादी थे। इसी से वे अवसर की उपयुक्तता या अनुपयुक्तता

को देखकर सहयोग का आश्वासन भी देते थे और समालोचना का अधिकार भी रखते थे। कांग्रेस ने इस नीति का उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक पालन किया।[1] इसी प्रकार कांग्रेस के सभी प्रमुख नेता—नौरोजी, तैलंग, मेहता, गोखले—व्यवहार-पटु थे और इसी से वे संभाव्य का तिरस्कार कर असंभव का स्वप्न नहीं देखते थे। उनका सिद्धांत था कि जो मिले उसे स्वीकार करो और बाकी के लिए लड़ो। श्री नायक (V. N. Naik) का यह कहना बिल्कुल सच है कि ये नेता सामंजस्य और समझौते के तत्व को समझते थे।[2] युग की इसी प्रगतिवादी भावना से भारतेंदु-युग के लेखक भी अनुप्राणित थे। इसी से वे भी सच्चे सामंजस्यवादी के समान कहीं अधिकारियों को राजभक्ति का आश्वासन दिलाते थे और कहीं उनकी आलोचना करते थे, कहीं समाज का संशोधन चाहते थे और कहीं उसकी रक्षा। सारा काव्य और साहित्य इसी दृष्टिकोण का संकेत दे रहा है।

समाज और संस्कृति की रक्षा का स्वर सामंजस्य के समान ही प्रबल और प्रमुख है। इन कवियों ने सामंजस्य के नाम पर किसी महत्वपूर्ण तत्व की बलि नहीं चढ़ाई। वे नवीन संस्कृति के नूतन तत्वों का स्वागत करने के लिए वहीं तक तैयार थे जहाँ तक उनसे लाभ समझते थे। वे सुधार और संशोधन चाहते हुए भी समाज और संस्कृति के व्यक्तित्व को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते थे। इसी से वे अँगरेजी चाहते थे किंतु अँगरेजियत नहीं।

---

१. 'आर्याभिनंदन', पृष्ठ ५।

२. The liberals of those days, as the early Congress men can be rightly so called, knew the essentials of true compromise.

INDIAN LIBERALISM, Page 15.

The fundamental position of Congress till 1919 · · · ·was to cooperate where we can and criticise where we must.

Ibid, Page 15.

ये चाहते थे कि भारत नवीन शिक्षा प्राप्त करे, नूतन संस्कृति को परखे और अपनाए भी; किंतु अपनी बलि चढ़ाकर नहीं। वे भारत को इँगलैंड का उपनिवेश नहीं बना देना चाहते थे, प्रत्युत वे भारत में भारतीयता की रक्षा चाहते थे। दूसरे शब्दों में वे किसी प्रकार की मानसिक दासता के लिए नहीं तैयार थे। इसी लिए जब वे देखते थे कि भारत के शिक्षित 'पश्चिम की आँधी' में रास्ता भूल रहे हैं तो उनको हार्दिक क्षोभ होता था और वे उनको सावधान करने के लिए बार-बार चेतावनी देते थे। भारतेंदु-युग के सभी प्रमुख कवियों ने अँगरेजी शिक्षित वर्ग के बीच बढ़ती हुई आत्महीनता को लक्षित किया है और उसपर दुःख प्रकट किया है। प्रेमघन स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि 'पढ़ि विद्या परदेश की बुद्धि बिदेसी पाय' ये लोग बिल्कुल अँगरेज बन गए हैं। विदेशी रंग में ये इतना रँग गए हैं कि इनके स्वतंत्र व्यक्तित्व और अस्तित्व का ही लोप हो रहा है। इनका आचार-विचार, रीति-नीति, रुचि तथा वेष सभी 'देश-विपरीत' हो रहे हैं। इनकी हीनता की भावना इस सीमा तक बढ़ गई है कि 'हिन्दुस्तानी नाम सुनि अब ये सकुचि लजात।'[२] कवि अत्यंत क्षोभ के साथ कह उठता है कि 'भारतीयता कछु न अब भारत में दरसात।'[३] इसी आत्मस्वरूप के विस्मरण का रोना प्रतापनारायण मिश्र रो रहे हैं। लोग निजत्व की भावना को भूल रहे हैं। सारा जन-समाज अपनी संस्कृति के असली रूप, आत्मतत्त्व और अपने मन को खोकर सो रहा है "सब बिधि निजता तजि जन-समाज सुख सोयो।" "आस कौन की काहे हाय जहँ निजता सबनि गँवाई है।"[४] इसी प्रकार बालमुकुंद गुप्त जी अपने स्वरूप की हीनता पर क्षुब्ध हो रहे हैं। देश की स्वतंत्रता तो पहले ही नष्ट हो चुकी है। अब उसका बाह्य स्वरूप और अस्तित्व भी नष्ट हो रहा है। अब भाषा, भोजन और वेष की हानि हो रही है। "बहु दिन बीते राम प्रभु

---

१. 'आर्याभिनंदन', पृष्ठ ५।

२. वही।

३. वही।

४. 'मन की लहर'।

खोयो अपनो देस, खोवत हैं अब बैठ के भाषा भोजन वेष।"[1] भाषा भोजन वेष की पुकार कितनी महत्त्वपूर्ण है इसका पता इस बात से लग जाता है कि सभी प्रमुख कवियों ने इसका किसी न किसी रूप में उल्लेख किया है। प्रेमघन तो स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं—"अपनी जाति, वस्तु, अपने आचार देशभाषा से, रक्खो प्रीति रीति निज धर्म देश पर अति ममता से।"[2] इसी बात को अंबिकादत्त व्यास इस तरह से कह रहे हैं कि अँगरेजी पढ़ने पर भी अँगरेज न बनेंगे, भारत में जन्म लिया है और भारत के ही होकर रहेंगे "अँगरेजी हम पढ़ी तऊ अँगरेज न बनिहैं भारत ही में लियो जन्म भारत ही रहिहैं।"[3] बालमुकुंद गुप्त भी इसी प्रकार प्रार्थना कर रहे हैं कि अपनापन छोड़कर दूसरी ओर न ढुलकें—"नहिं आपनपौ बिसराय कै आन ओर सपनेहु ढरैं।"[4]

'अपनपौ' (निजत्व) और 'भाषा भोजन भेस' की पुकार को हम प्रतिक्रियावादियों का अपरिवर्तनवादी हृदयोद्गार कहकर नहीं टाल सकते सांस्कृतिक रक्षा के इस स्वर में अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत छिपा है जिसे भारतेंदु-युग के लेखक अच्छी तरह समझते थे। वे जानते थे कि व्यक्ति के समान प्रत्येक जाति, समाज और संस्कृति का व्यक्तित्व होता है। उसकी अपनी विशेषता और विलक्षणता ही उनका व्यक्तित्व है जो उनको दूसरी जाति, समाज और संस्कृति से अलग करता है। उनका यह व्यक्तित्व शताब्दियों से प्रवाहित जातीय इतिहास, परंपरा और स्वभाव के विकास से बनता है और यही व्यक्तित्व उनका जीवन है। जब तक उनका यह व्यक्तित्व अक्षुण्ण और स्वतंत्र बना रहता है तभी तक उनका जीवन है। इस जातीय विशेषता या व्यक्तित्व के लुप्त होते ही उनका अस्तित्व भी लुप्त हो जाता है, कम से कम महत्त्वपूर्ण नहीं रह जाता। इसी लिए भारतेंदु-युग के सभी प्रमुख लेखकों का 'अपनेपन' की रक्षा पर आग्रह था। वे सुधार और संशोधन चाहते थे, किंतु यह नहीं

१. 'स्फुट कविता', पृष्ठ १६।
२. 'आर्याभिनंदन', पृष्ठ ५।
३. 'मन की उमंग'।
४. 'स्फुट कविता', पृष्ठ १६।

चाहते थे कि लोग विदेशी रंग में सिर से पैर तक रँग जायँ, जिससे जातीय व्यक्तित्व ही नष्ट हो जाय और पहचाने न जा सकें।

भारतेंदु-युग के लेखक उन्नीसवीं शताब्दी को जातीय पुनरुत्थान का स्वर्ण संयोग मानते थे। वे चाहते थे कि विविध समाज एक सूत्र में बँध जायँ और भारत में राष्ट्रीय चेतना का संचार हो। यह सभी जानते थे कि प्रदेश, भाषा और भाव की एकता के आधार पर ही राष्ट्र का निर्माण होता है और राष्ट्रीय भावना को दृढ़ करने के लिए इन्हीं का सहारा लिया जाता है। प्रदेश आदि के बाद बाह्य वेषभूषा का स्थान होता है। इसी से भारतेंदु-युग के कवि भाषा, भोजन, वेष की रक्षा और विशेषता बनाए रखने की पुकार मचा रहे थे। इन बाह्य उपकरणों की एकता के प्रयास के साथ-साथ वे जातीय विकास और स्वभाव को समझकर उसके अनुकूल उन्नति का रास्ता बना रहे थे। इसी जातीय स्वभाव या विशेषता को उन्होंने 'निजता' या 'आपुनपौ' कहा है, और इसके अनुकूल उन्होंने संशोधन या सुधार सुझाया है। भारतीय संस्कृति सदा से धर्मप्रवण रही है। सामंजस्य-प्रियता उसके मूल में है और प्रत्येक पुनरुत्थान धार्मिक और सामाजिक जागरण से आरंभ हुआ है। यही बात उन्नीसवीं शताब्दी के पुनरुत्थान में हुई और इसी से भारतेंदु-युग के कवियों में धार्मिकता और सामंजस्य-प्रियता दोनों मिलती हैं। भाषा, भोजन, भेस में इसी जातीय व्यक्तित्व की रक्षा की उत्सुकता दिखाई देती है।

इस प्रकार भारतेंदु-युग में समग्र भारत को सबल सूत्र में बाँधने का प्रयास हुआ। इस प्रकार उनके उपर्युक्त सिद्धांतवाक्यों में प्रतिक्रियावादियों की कट्टरता नहीं थी, प्रत्युत आत्मरक्षा का साधन और आत्मोन्नति का मार्ग था। इन कवियों ने वही किया जो प्रत्येक देश का सच्चा हितैषी और देशभक्त अब तक करता आ रहा है। एक प्रमुख लेखक के शब्दों में "देशभक्त अन्य परिवारों के बीच परिवार के समान ही—अपने देश की सत्ता, उसकी प्रमुख स्वाभाविक विशेषता, स्वतंत्रता तथा व्यक्तित्व को बनाए रखना चाहता है।"[१]

---

१. The patriot desires to maintain the integrity of his own

भारतेंदु-युग के कवियों ने भी अपने देश और संस्कृति के व्यक्तित्व और विशेषता को अक्षुण्ण बनाए रखने की चेष्टा की। इतना ही नहीं, भारतेंदु-साहित्य ने उन्नीसवीं शताब्दी में जातीय वातावरण का चित्रण कर संस्कृति के अनुकूल जातीय चेतना का सम्यक् पथ प्रदर्शन किया।

इसी से मिलती-जुलती गुजराती-साहित्य के नवोत्थान की कथा है। हिंदी और गुजराती-साहित्य का विकास भी बहुत कुछ एक ही प्रणाली पर हुआ है और दोनों में सांस्कृतिक संबंध भी अत्यंत घनिष्ठ है। अत: इस संबंध में दो-चार शब्द अप्रासंगिक न होंगे, क्योंकि उनसे साहित्यिक गतिविधि समझने में सहायता मिलती है।

हिंदी के समान गुजरात की साहित्यिक जागति भी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से आरंभ होती है। इसके पूर्व गुजराती-साहित्य भी शृंगार, नीति और भक्ति की परंपरा और प्रणाली का अनुसरण कर रहा था। दोनों का गद्य अत्यंत शिथिल और अल्प था। अँगरेज़ी शिक्षा और संस्कृति के प्रभाव से इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वहाँ के साहित्य में क्रांति आरंभ हुई। नर्मदाशंकर (१८३३–१८८६) इस क्रांति के अग्रदूत और प्राण हैं। हिंदी-साहित्य में जो स्थान भारतेंदु हरिश्चंद्र का है वही स्थान गुजराती-साहित्य में इनका है।

कुछ बातों में दोनों का जीवन भी समान है। दोनों में उत्साह, साहस

---

country—its distinctive character, its liberties, its individuality as a family among the families of the earth.

—WHAT IS PATRIOTISM by H. Costly White, Page 91.

१. The first half of the nineteenth century may be taken merely a continuation of the eighteenth century, so far as the prevailing note of the literature is concerned......Towards the middle or rather end of the half, English education began to be imparted to the youths of the province, and a beginning was made which has revolutionised the literature of Gujrat as it has done elsewhere in India.

—MILESTONES IN GUJRATI LITERATURE, Page. 171

और कल्पना का प्राबल्य है। दोनों के जीवन में प्रेम और रसिकता की छाप है और दोनों इसके कारण प्रिय बने तथा बदनाम भी हुए। नर्मदाशंकर को तो इसके कारण जाति-बहिष्कृत भी होना पड़ा। भारतेंदु के समान 'नर्मद'[१] भी स्पष्ट देख रहे थे कि साहित्य चौराहे पर खड़ा है और उसे नवीन दिशा की ओर प्रवाहित करने तथा समय के अनुरूप बनाने के लिए उन्होंने गद्य को उन्नत बनाया। हरिश्चंद्र के समान ही नर्मद अर्वाचीन गुजराती गद्य के जन्मदाता और आचार्य माने जाते हैं।[२]

भारतेंदु के समान नर्मद ने भी अपने साहित्य और प्रांत के उत्थान में सर्वस्व समर्पित कर दिया। प्रांत में जागरण और साहित्य की श्री-वृद्धि के लिए उन्होंने निबंध, आलोचना, जीवन-चरित, इतिहास (जनश्रुति) सभी में हाथ लगाया। राजनीति, समाज-सुधार, धार्मिक विषयों पर उन्होंने लिखा और वक्तृताएँ भी दीं। (भारतेंदु के समान) अतीत की ओर संकेत कर उन्होंने देशभक्ति की भावना दृढ़ की और इतिहास की ओर अनुराग दिखाकर साहित्य में ऐतिहासिक भावना (Historic Sense) की पुष्टि की, फिर भी दोनों में बड़ा भेद भी था। भारतेंदु आरंभ से लेकर अंत तक सामंजस्यवादी बने रहे, किंतु नर्मद आरंभ में विद्रोही थे। समाज और साहित्य दोनों में ये आमूल परिवर्तन चाहते थे, क्योंकि आरंभ में इनपर पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति का प्रभाव पूरा-पूरा था, किंतु जब धीरे-धीरे इनके सभी उग्रवादी साथियों ने इनका साथ छोड़ दिया तब इनको अपनी मनोदृष्टि पर संदेह हुआ और यह प्रश्न हुआ कि क्या बिना समझे-बूझे उस समाज या संस्कृति को

---

१. It was patent to him that our literature stood at the parting of ways and that, if it was to keep abreast of times, it would have to be conducted into fresh channels.

—PRESENT STATE OF GUJRAT LITERATURE, Page 10

२. It is thus Narmada Shanker........that is hailed as the father or creator of Modern Gujrati Prose.

Ibid, Page 11

ढहाना ठीक होगा जो शतियों से आर्यों की रक्षा करती आ रही है। इसी समय से इनमें परिवर्तन हुआ और फिर अध्ययन के कारण ये सामंजस्यवादी बन गए। फलतः ये पश्चिम और पूरब को जोड़नेवाली कड़ी बन गए।[१] प्राचीनतावादी मनसुखराम और, नर्मद दोनों ने नवीन जीवन और मनोदृष्टि के पुनरुत्थान में सामंजस्य का उद्घाटन किया।

भारतेंदु-मंडल के समान नर्मद के सहयोगियों में—मनसुखराम, गोवर्धनराम, नरसिंहराव, नानालाल—ये भी प्राचीनतावादी और नवीन का स्वागत करनेवाले थे। कुछ पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ा था। और कुछ प्राचीन के सहारे नवीन का निर्माण कर रहे थे। इस प्रकार गुजरात के साहित्यिक पुनरुत्थान में जो नवीनता, अनेकरूपता और विविधता दिखाई पड़ती है उसके मूल में पाश्चात्य प्रभाव तथा प्राचीन का प्रेम दोनों हैं। भारतेंदु के सहयोगियों में भी इसी प्रकार दो दल दिखाई पड़ते हैं जिनका हिंदी-साहित्य पर प्रभाव पड़ा।

इस प्रकार हमें उन्नीसवीं शताब्दी के हिंदी-साहित्य और गुजराती-साहित्य दोनों में बहुत समानता दिखाई पड़ती है। इस समानता का अर्थ यह है कि दोनों साहित्यों की विशेषताओं पर समाज-सुधार, देश-भक्ति, सामंजस्य, संस्कृति-रक्षा—एक ही युग तथा समान बाह्य वस्तुस्थिति का प्रभाव पड़ा था और इसलिए उनके प्रति दोनों साहित्यों की प्रतिक्रिया भी बहुत कुछ समान हुई।

---

१. By the joint efforts they succeeded in unveiling the harmony and beauty of renaissance, which stood for a new life, a new expression, a new vision.

—GUJRAT AND ITS LITERATURE, page 845.

२. The works of Narmada, Goverdhan Rao, Narsingh Rao and Nana Lal owe their variety and fertility as much to revivalist tendencies as to stimulating contact with the west. Ibid, Page 375.

इसलिए भारतेंदु-साहित्य युग का तथा युग की समस्याओं का परिचायक है और उसके साहित्यकार युग-निर्माता तथा आचार्य हैं, अतः उसे तुच्छ समझना ठीक नहीं है। आज की चेतना का बहुत कुछ श्रेय उसी को है। भारतेंदु-साहित्य ने सांस्कृतिक चेतना को अक्षुण्ण रखते हुए नव जीवन और नव जागर्ति का संदेश दिया, इसका जितना गुणगान किया जाय थोड़ा है।

उपसंहार

पिछले पृष्ठों (उन्नीसवीं शताब्दी) में काव्य में प्रचलित प्रवृत्तियों तथा देश में प्रचलित विचार-धाराओं के सिंहावलोकन का प्रयास किया गया है। इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी विचार, व्यक्तित्व तथा सामाजिक चेतना की दृष्टि से कितनी समृद्ध तथा संपन्न थी

उन्नीसवीं शताब्दी की यह संस्कृति संक्रांतिकाल की संस्कृति थी जो नवीन तथा प्राचीन, वर्तमान तथा अतीत के बीच झूला झूल रही थी और निर्णय में असमर्थ थी। उसकी एक दृष्टि अतीत की ओर थी दूसरी वर्तमान की ओर। अभी अतीत के स्वप्नों का साथ नहीं छूटा था। उनसे सांत्वना और संतोष मिलता था। वर्तमान झोंके देकर जगा रहा था और भविष्य की चिंता शुरू हो गई थी। कवि और साहित्यकार इनका अत्यंत उत्साह से स्वागत और अभिनंदन कर रहे थे। अपने विचारों के सहारे वे जीवन की पुनर्व्यवस्था करना चाहते थे। वे अपने-अपने विचारों को लेकर काव्य के क्षेत्र में आए। विचारों का द्वंद्व और संघर्ष हुआ, किंतु किसी की जय-पराजय न हुई। काव्य और संस्कृति दोनों का समावेश और स्वागत करते हुए समय के साथ विकसित होते गए।

काव्य शताब्दी के विचारों से प्रभावित हुआ। साहित्य में नवीन—राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना का समावेश हुआ। कवियों ने नए सामाजिक विचारों का स्वागत किया, व्यक्तिगत तथा जातीय जीवन को अधिक से अधिक उदार तथा व्यापक बनाने की चेष्टा की और इसमें कृतकार्य भी हुए। यद्यपि प्राचीनता का परित्याग नहीं किया गया, फिर भी उसे उदार बनाकर नवीनता का स्वागत हुआ। वर्ण-व्यवस्था को इन कवियों ने नहीं तोड़ा, फिर भी वर्ग-भावना को उत्साहित किया, जिससे वर्ण-व्यवस्था की अपेक्षा उससे बाहर आपस में संपर्क के अधिक से अधिक अवसर

आए और फलतः वर्ण-व्यवस्था उतनी महत्त्वपूर्ण न रह सकी। वर्ण-व्यवस्था को यथोचित स्थान देते हुए इन कवियों ने राष्ट्रीयता की वर्ग-भावना को प्रोत्साहित किया। इससे विषमता भी न आई और राष्ट्रीयता भी पल्लवित हुई।

सभी क्षेत्रों में इन कवियों में एक ही चिंता दिखाई देती है। इनकी चिंता उपयुक्त जीवन की खोज में है—ऐसा जीवन जो प्रभावपूर्ण, शक्तिसंपन्न और औचित्य की भावना से युक्त हो। इनकी भावना सामंजस्य और सद्बुद्धि को नहीं छोड़ती और अत्यंत संतुलित है। इसी ने कवियों को समाज-सुधारक बना दिया। इसी से इनकी देशभक्ति प्रकट हुई और इसी से प्रेरित होकर उस संघर्ष और संक्रांतिकाल के बीच इन्होंने सांस्कृतिक स्वतंत्रता और सामाजिक पुनरुद्धार की पुकार मचाई। सांस्कृतिक स्वतंत्रता ने 'पश्चिमी आँधी' के बीच इनके स्वरूप की रक्षा की और सामाजिक पुनरुद्धार ने गरीबी के खिलाफ आवाज उठाई और उन्नति का रास्ता दिखाया। इस प्रकार इन लोगों ने अपने ढंग पर जीवन का विकास किया। 'जीवन कैसे संचालित हो !' इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर इन्होंने अपने काव्य में दिया।

इन सबका परिणाम यह हुआ कि भारतेंदु-काव्य ने अप्रकट रूप से कला को कला के लिए न मानकर कला को जीवन के लिए अपनाया। काव्य रस की सृष्टि करने के साथ-साथ जीवन की समस्याएँ भी सुलझाने लगा। उन्हें बढ़ावा देने लगा। यथार्थवादिता का काव्य में समावेश हुआ। फलतः सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि जीवन और काव्य के बीच जो खाई आ गई थी उसे भारतेंदु-काव्य ने आप्लावित कर दिया। साहित्य और जीवन फिर साथ-साथ चलने लगे

यहाँ पर एक बात और कह देनी चाहिए। भारतेंदु-काल या उन्नीसवीं शताब्दी के कवियों में आशावादिता अधिक थी, फिर भी आशा फलवती न हुई। उनके विचार पूर्णतया चरितार्थ न हुए, फिर भी उनका महत्त्व कम नहीं है। उनकी महत्ता उनके विचारों की सिद्धि या सफलता में नहीं, प्रत्युत उनकी साधना में है। इसी प्रकार भारतेंदु हरिश्चंद्र का महत्त्व उनकी पूर्णता में नहीं है उनके परिश्रम में है। इसी प्रकार भारतेंदु-युग के काव्य का महत्त्व

उसके विचारों की मौलिकता, संभावना और उनकी सांकेतिकता में है। इस युग की विशेषता उसकी नूतन मनोदृष्टि में है—उस मनोदृष्टि में है जिसने युग तथा संस्कृति के बीच होनेवाले (सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, आध्यात्मिक) परिवर्तन को परखा और उनका विश्लेषण कर समुचित पथ-प्रदर्शन किया, जिसने काव्य को युग का दर्पण बना दिया और जिसने भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न धारा से देश को अलग न होने दिया। इस मनोदृष्टि का महत्त्व उसकी सफलता या असफलता पर आश्रित नहीं है क्योंकि असफलता का उत्तरदायित्व कवियों (की अशक्तता) पर न होकर स्वयं युग पर है। कवियों ने केवल युग का प्रतिनिधित्व किया है। उनके काव्य में उन्नीसवीं शताब्दी की आशा-निराशा, क्षोभ और विषाद, स्वप्न और कल्पना मुखरित हो उठीं। भारतेंदु-काल के छोटे-बड़े सभी कवियों ने इस शताब्दी के प्रमुख विचारों के समर्थन में योग दिया और अपनी मनोदृष्टि से अनुरंजित भारतीय जीवन का स्वरूप सामने रखा।

भारतेंदु-काव्य का महत्त्व उसके संग्रह और त्याग में है, यथार्थ और आदर्श के बीच सामंजस्य स्थापित करने में है और अतीत को वर्तमान के साथ जोड़ने में है। उसका महत्त्व इस बात में है कि जब वे आगे बढ़े तो अतीत से नाता नहीं तोड़ लिया। भारतेंदु-काव्य का सबसे बड़ा महत्त्व इस बात मे है कि इस युग के कवियों ने न तो शताब्दियों से आती हुई भारतीय संस्कृति की धारा से अपना संबंध-विच्छेद किया और न वे उन्नति के मार्ग के कंटक बने। उस संक्रांतिकाल में भारतीय संस्कृति के सत् स्वरूप को सामने रखते हुए उन्होंने सांस्कृतिक रक्षा का जो संदेश दिया उसका आज भी महत्त्व है।

———

द्विवेदी-युग

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए भारतेंदु-युग ने प्रबल योरपीय संस्कृति से सामंजस्य स्थापित कर लिया। अपनी संस्कृति की रक्षा और उसके उत्थान के लिए यह परमावश्यक भी था। विदेशी संस्कृति का पूर्ण बहिष्कार असंभव था और भारतेंदु-युग के साहित्यकार यह भी नहीं चाहते थे कि हमारी प्राचीन संस्कृति इस विदेशी सभ्यता से कवलित हो जाय। दूसरे, भौतिक क्षेत्र में सफल सिद्ध होनेवाली इस संस्कृति का महत्त्व और आकर्षण दोनों था। देश की उन्नति के लिए वे इसके प्रयोगों का अपने यहाँ भी आरंभ चाहते थे। साथ ही साथ वे अपनी संस्कृति के सर्वथा त्याग के लिए तैयार नहीं थे। इसी से उन्होंने सामंजस्य-बुद्धि से काम लेकर समझौता कर लिया। समझौते की मुख्य शर्त यह थी कि राजनीतिक, आर्थिक तथा शैक्षिक क्षेत्र में तो पाश्चात्य संस्कृति के उद्देश्य तथा साधन मान्य होंगे, किंतु धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में वे अपना रास्ता स्वयं बनाएँगे। इसका यह आशय नहीं है कि वे धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में किसी प्रकार के सुधार का अनुभव नहीं कर रहे थे, प्रत्युत वे इन क्षेत्रों में अपने को स्वतंत्र रखना चाहते थे और किसी का अंधानुसरण नहीं करना चाहते थे। इस क्षेत्र में वे पाश्चात्य आदर्शों को मानने को तैयार नहीं थे।

सामंजस्य-बुद्धि के साथ-साथ अतीत-प्रेम भी भारतेंदु-काव्य की प्रमुख विशेषता थी और यह भी अपनी रक्षा के लिए था। प्राचीन भारत के गौरवपूर्ण चित्र सामने रखकर ये अपनी संस्कृति, देश और जाति के प्रति अभिमान जगाना चाहते थे। गौरवपूर्ण अतीत की ओर ध्यान ले जाकर ये भारतवासियों की हीनता की भावना को दूर कर रहे थे। अतीत के ये उज्ज्वल चित्र हमारी संस्कृति की सार्वभौमिकता, सर्वांगीणता और उच्चता का संकेत देते हैं जिनके अनुशीलन से जाति में उन्नत बनने की इच्छा जगती है और प्रबल होती है। अतीत-प्रेम की यह प्रवृत्ति राजनीतिक तथा सामाजिक सभी

क्षेत्रों में लक्षित होती है। राजनीतिक और सामाजिक दशा का सुधार करने के लिए भारतेंदु-युग के कवि देशवासियों का आह्वान करते हुए उनको अतीत से प्रेरणा और उत्साह देते हैं। इन्हीं से देशभक्ति तथा समाज-विषयक कविताओं का मुख्य आधार अतीत का संकेत है।

अतीत के प्रति इस झुकाव को आर्यसमाज—जिसका जन्म भारतेंदु-युग में हुआ और जो द्विवेदी-युग में फला-फूला—से अत्यधिक बढ़ावा मिला हम देख चुके हैं कि आर्यसमाज का मुख्य उद्देश्य भारत का अभ्युत्थान था और उसका आधार वैदिक था। आर्यसमाज वेद के आधार पर इस नवोत्थान का निर्माण करना चाहता था। स्वामी दयानंद का दृढ़ विश्वास था कि वेद संसार की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक है और सारे संसार का ज्ञान-विज्ञान (और आजकल के वैज्ञानिक अन्वेषण) वेद में संचित तथा सुरक्षित हैं। वे बराबर कहते थे कि जब तक हम वेदानुकूल आचरण करते रहे भारत की उन्नति होती रही। वेदाध्ययन का अभाव ही हमारी अवनति का मुख्य कारण है। इसलिए भारत की उन्नति के लिए वेद अनिवार्य हैं। इस प्रकार आर्यसमाज ने हमारा ध्यान अतीत की ओर आकृष्ट किया। इससे हममें अपने अतीत के प्रति गर्व की भावना जगी और हीनता का भाव दूर हुआ। वेद संसार की सर्वप्रथम पुस्तक है। इसकी प्रशंसा और उच्चता से हमें अपनी प्राचीन वैदिक संस्कृति या विश्व की सर्वप्रथम संस्कृति की उच्चता का बोध हुआ और हम यह समझने लगे कि वर्तमान चाहे जितना दयनीय हो, हमारा अतीत अत्यंत गौरवपूर्ण और सर्वोच्च रहा है। अतीत के प्रति अभिमान जगाने के साथ-साथ आर्यसमाज ने अप्रकट रूप से हममें जातीय अभिमान की भावना भरी। हम देख चुके हैं कि आर्यसमाज किस प्रकार अप्रकट रूप से हमारी राष्ट्रीय चेतना को जगाने में कृतकार्य हुआ है। उन्नीसवीं शती के अंत में भारत का जो राष्ट्रीय जागरण हुआ है उसमें आर्यसमाज का प्रधान हाथ रहा है।

ऐतिहासिक अनुसंधानों से अतीत के गौरव और उसके प्रति अभिमान को एक और दृढ़ सहारा मिला। इतिहास की सही प्राप्त होने के कारण अतीत की अन्य विशेषताओं को कपोल-कल्पना नहीं कहा जा सकता था। राजेंद्रलाल मित्र तथा भांडारकर प्रभृति विद्वानों की खोजों का जनता की हीन भावना

दूर करने में बहुत बड़ा हाथ है। इनकी खोज का क्षेत्र बड़ा व्यापक था। प्राचीन इतिहास, साहित्य और संस्कृति सभी विषयों की छानबीन इन लोगों ने की और इस प्रकार प्राचीन भारत के इतिहास, दर्शन, साहित्य सभी का उज्ज्वल चित्र हमारे सामने उपस्थित किया। अपने गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास के ज्ञान से जनता में उत्साह जगा और राष्ट्रीय भावना और भी उद्दीप्त हुई।

इस राष्ट्रीय भावना के विषय में इतना कह देना आवश्यक प्रतीत होता है कि यह एक जाति-विशेष की राष्ट्रीय भावना थी जो अतीत के आधार पर पनप उठी थी। आर्यसमाज का कार्य-क्षेत्र भी हिंदू-समाज था। इसलिए वेद के आधार पर जो सुधार-योजना थी उसका शुभ परिणाम भी केवल हिंदुओं के बीच ही लक्षित हुआ। इसी प्रकार ऐतिहासिक अनुसंधानों का संबंध भी हिंदुओं से था। ऐतिहासिक खोज से हिंदुओं के इतिहास, दर्शन और साहित्य की उज्ज्वलता ही सिद्ध हुई और हिंदू जाति ने ही गौरव का अनुभव किया। इस समय भारत में शिक्षितों में भी हिंदुओं की संख्या ही सबसे अधिक थी। इससे इस समय जो राष्ट्रीय जागरण हुआ वह एक प्रकार से हिंदू जागरण था क्योंकि इस जागरण में हिंदू इतिहास और परंपरा का आश्रय या अवलंब प्रधान था। गौरव की भावना भी हिंदुओं में ही जगी और हिंदू ही अतीत के समान वर्तमान और भविष्य को सुधारने तथा समुज्ज्वल बनाने को सचेष्ट हुए। इस प्रकार यह राष्ट्रीय जागरण और हिंदू पुनरुत्थान दोनों बना, फिर भी इन सब परिस्थितियों का सबसे बड़ा और शुभ परिणाम यह हुआ कि जनता की हीनता की भावना दूर हुई और पाश्चात्य संस्कृति की चकाचौंध कम हो गई। इतना ही नहीं, जनता में इतना उत्साह और गर्व भर गया कि वह कम से कम आध्यात्मिक क्षेत्र में अपनी संस्कृति को सर्वोच्च और पाश्चात्य को हेय समझने लगी और अपने अतीत युग को संसार का सिरमौर मानने लगी। जनता के अतीत-प्रेम, उत्साह, गर्व और उच्चता की भावना को लक्षित करते हुए एक प्रसिद्ध समाजविज्ञानी के ये शब्द बड़े सच्चे और सारगर्भ हैं कि "इस समय हिंदू दर्शन तथा लोकाचार के लिए जितने दावे पेश किये गए उतनों की ऋषि-मुनियों की भी हिम्मत न पड़ी थी।"[1] और

१. In this period more claims were made for Hindu

"इस समय भारतीय सहसा अपने अतीत के विषय में सचेत हो गए और (इस विषय में) गेटे, शोपेनहार और एमर्सन के (दिए हुए) सर्टिफिकेट बड़े (शौक और) घमंड से दिखाने लगे।"[1] इस प्रकार आर्यसमाज के फल-स्वरूप द्विवेदी-युग में जनता का ध्यान हिंदू संस्कृति और उसके निदर्शक पूर्वजों की ओर गया।

जनता का यह राष्ट्रीय और जातीय जागरण द्विवेदी-युग के साहित्य में प्रतिबिंबित है। जनता की भावनाएँ काव्य में झलक रही हैं। जनता की मनोभावना के समान कवि की मनोदृष्टि भी अतीत की ओर लगी हुई है। कवि अतीत के गीत गा रहे हैं और हिंदू संस्कृति के उच्चतम प्रतीक और व्यक्तियों की ओर संकेत कर रहे हैं। इस प्रकार जन-मन के समान काव्य भी अतीत और हिंदुत्व से ओतप्रोत है। इस युग के सभी प्रमुख कवियों ने इन विषयों पर कुछ न कुछ लिखा है. ऐसी बात नहीं है कि अतीत-प्रेम और हिंदुत्व केवल छोटी-छोटी स्फुट कविताओं में ही व्यंजित होता हो। इस समय के रचित प्रमुख प्रबंध-काव्यों के नाम ही इस ओर ध्यान आकृष्ट करने को पर्याप्त हैं। हरिऔध के 'प्रियप्रवास', रामचरित उपाध्याय के 'राम-चरित-चिंतामणि' और मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' की चर्चा स्वतः उनके वस्तु-विषय का संकेत दे देती है। यह कहने की कदाचित् ही आवश्यकता हो कि इनमें हिंदू जाति की उच्चतम विभूतियों का गुणगान हुआ है और इनमें कवियों की दृष्टि अतीत की ओर है उनका उद्देश्य चाहे वर्तमान ही हो। ये ग्रंथ खड़ी बोली के हैं और इनके रचयिता खड़ी बोली के आचार्य हैं। ब्रजभाषा में अत्यंत सरस और मधुर रचना करनेवाले तथा ब्रजभाषा के अन्यतम कवि सत्यनारायण कविरत्न भी वर्तमान से व्यथित

Philosophy and Hindu customs than even the Rishis dared.

—MODERN INDIAN CULTURE by D. P. Mukerjee.

१. In this period Indians suddenly became conscious of their past. Certificates of Goethe, Schopenhaur and Emerson were shown with Pride.—Ibid.

होने पर अतीत में ही आश्रय और अवलंब ढूँढ़ते हैं। भारत की दयनीय दशा पर उनका हृदय फूट पड़ा और 'भ्रमरगीत' की रचना हुई। भ्रमर-गीत में कवि स्पष्टतया अतीत की ओर उन्मुख है। इस प्रकार देखते हैं कि द्विवेदी-युग के काव्य में वही अतीत-गौरव के चित्रण और हिंदू-गुणगान की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं जिनसे तत्कालीन जनता का हृदय आंदोलित हो रहा है।[1]

इन काव्यों के अनुशीलन से केवल जनता के हृदय का प्रतिबिंब ही नहीं मिलता या तत्कालीन साहित्य में प्रचलित प्रवृत्तियों के ही दर्शन नहीं होते, वरन् इनसे युग के प्रमुख कवियों की मनोदृष्टि का संकेत भी मिलता है। इन ग्रंथों से इस बात का भी संकेत मिलता है कि उस युग के संस्कृति-संघर्ष में

---

१. काव्य के समान तत्कालीन चित्रकला का भी झुकाव अतीत की ओर है। द्विवेदी-युग के प्रसिद्ध चित्रकार राजा रविवर्मा की चित्रकला की भी यही विशिष्टता है। राजा रविवर्मा के चित्र 'सरस्वती' में बराबर प्रकाशित होते थे। इतना ही नहीं, मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम 'शंकर' आदि की आरंभिक कविताओं का आधार ये ही चित्र होते थे। सुकेशी, वसंतसेना, राधाकृष्ण आदि चित्रों पर कवियों की रचनाएँ प्राप्त हैं। राजा रविवर्मा की कल्पना का मुख्य स्रोत पौराणिक तथा धार्मिक है। उन्होंने तत्संबंधी लोक-विश्रुत कथाओं और परंपरा को अपनी तूलिका का विषय बनाया है। इस प्रकार काव्य और चित्रकला दोनों अतीत और पौराणिक तथा धार्मिकता की ओर समान रूप से उन्मुख हैं। युग के जागरण की जो विशिष्टताएँ काव्य में लक्षित हो रही हैं वे ही चित्रकला के बीच भी मिलती हैं। इसी से रविवर्मा की लोकप्रियता का संकेत करते हुए एक लेखक का कहना है कि रविवर्मा की लोकप्रियता यह सिद्ध करती है कि उन्होंने हिंदू राष्ट्रीय भावना को पहचान लिया था। अब वे चरित्रविशिष्ट और पौराणिक विषयों पर चित्र बनाने लगे—

Ravi Varma's popularity proves that he had hit the national Hindu taste...He now went on painting character studies, portraits and mythological subjects.

—CULTURAL HISTORY OF BRITISH INDIA

by A. Yusuf Ali, Page 258.

उनकी भावना क्या थी और उनकी प्रतिक्रिया कैसी थी। इन काव्य-ग्रंथों से इस बात का भी पता लग सकता है कि नव निर्माण के लिए वे अतीत की ओर देखते थे या भविष्य की ओर। उनकी दृष्टि आगे की ओर लगी थी या पीछे की ओर। इस दृष्टि से इन कवियों की मनोदृष्टि का संक्षिप्त विश्लेषण अप्रासंगिक न होगा।

सबसे पहले इस युग के ब्रजभाषा के अन्यतम कवि सत्यनारायण कविरत्न के 'भ्रमरगीत' को लीजिए। यह रचना जहाँ एक ओर अपनी मधुरता के लिए प्रख्यात है वहाँ अपनी सामयिकता के लिए भी महत्त्वपूर्ण है, जहा कवि की सरसता और भावुकता को व्यक्त करती है वहाँ उनके हृदय की संवेदनशीलता का भी संकेत देती है और जहाँ ब्रजपति, ब्रजभूमि और ब्रजभाषा के प्रति कवि के अनन्य प्रेम को प्रकट करती है, वहाँ देश की तत्कालीन दयनीय दशा पर कवि की व्यथा तथा करुणधारा का प्रवाह भी दिखा रही है। यह कविता कवि के अंतर से निकली थी और इसी से लोकप्रिय हो गई।

इस कविता का मुख्य विषय भारत की दयनीय दशा है। कृष्ण मथुरा से द्वारका चले गए हैं। पुत्र-विरह से कातर यशोदा की समझ में नहीं आता कि किससे सँदेसा भिजवाएँ। स्वयं तो कुछ लिख नहीं सकतीं क्योंकि "पढ़ी न अक्षर एक, ज्ञान सपने ना पायो। दूध दही चारत में सबरो जनम गँवायो"[1] और वे कह उठती हैं कि "मात-पिता वैरी भए शिक्षा दई न मोहि" यशोदा कह रही हैं कि जो नारी-शिक्षा का निरादर करते हैं वे "स्वदेश अवनति प्रचंड पातक अधिकारी" हैं। इसी बीच एक भौंरा आ जाता है और यशोदा उससे कृष्ण के पास सँदेसा ले जाने को कह रही हैं। सँदेसा क्या है, वह तो देश की दुःखभरी कहानी है। कृष्ण के बिना अब कोई नहीं है जो ग्वालों को उनके हित की बात सुझावे और "स्वतंत्रता, समता, सहभ्रातता सिखावे"! आज यद्यपि ये सब प्रकार के दुःख सह रहे हैं, फिर भी मुख से कुछ नहीं कहते क्योंकि गँवार हैं और "कोउ अगुआ नहीं।"[2] इनका हृदय अत्यंत भीरु

१. कविता-कौमुदी, पृष्ठ ४१५। २. वही, पृष्ठ ४१९।

बन गया है। जो भारत छोड़कर दूसरे देशों में बस गए हैं वे और भी सताए जा रहे हैं। 'तिन्हैं विदेसी तंग करत विपदा दै खासी', देश में नित्यप्रति अकाल पड़ता है और लोग काल-कवलित हो रहे हैं, "काल को चलत चक्र चहुँ।"[1]

अब तो आशा और विश्वास भी साथ छोड़ रहे हैं, "लखियत कोउ रीति न भली, नहि पूरब अनुराग", अब तो देश ही परदेश बन रहा है और जातीय ज्योति का टिमटिमाता दीपक 'बाहरी ब्यारि' से बुझना चाहता है, ऐसे में देशीय प्रेम और भावना की आशा किसे हो, निराशा का साम्राज्य छा रहा है और "काऊ को विश्वास न निज जातीय उदय में"।

इस कविता में देश-दशा का पूरा चित्र है, देश की दरिद्रता, देशवासियों की अशिक्षा, कलह सभी का संकेत है। कवि ने उस सांस्कृतिक संघर्ष का इंगित दे दिया है जिसमें प्रबल विदेशीय संस्कृति से आक्रांत होकर जातीय ज्योति का दीपक धीरे-धीरे बुझ रहा है। कवि को खेद है कि प्राचीन रीति-रंग सब लुप्त हो रहे हैं और देश की निजी भावना और प्रेम नष्ट हो रहे हैं। एक प्रकार से अपनी सांस्कृतिक दुर्बलता का स्वीकार है, फिर भी तत्कालीन परिस्थिति का यह स्वीकार स्पष्ट शब्दों में नहीं है। अन्योक्ति के आवरण में सब कुछ कहा गया है।[2] इस अन्योक्ति में इस कविता की मधुरता और दुर्बलता है। मधुरता तो स्पष्ट ही है, दुर्बलता इस तथ्य में है कि कवि स्पष्ट शब्दों में इसे न कह सका और उसे अन्योक्ति की शरण लेनी पड़ी। इसमें कोई संदेह नहीं कि कवि वर्तमान से अवगत है, फिर भी वह इसे अतीत के माध्यम से व्यक्त कर रहा है। वर्तमान को प्राचीन कथा के सहारे कहा गया है। इसी में कवि की मनोदृष्टि का रहस्य निहित है। तत्कालीन परिस्थिति-जन्य कवि की प्रतिक्रिया के विषय में दो शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कवि को वर्तमान ने क्षुब्ध और व्याकुल बना दिया है और इसी से वह अतीत

---

१. कविता-कौमुदी, पृष्ठ ४२०।

२. एक प्रकार से यह भारतमाता का अन्यापदेश है। यशोदा के रूप में भारतमाता का अपने देश की निस्सहाय दयनीय अवस्था पर करुण क्रंदन है और उद्धार के लिए ईश-प्रार्थना है।

की ओर देख रहा है। कवि की दृष्टि अतीतोन्मुख है। प्रार्थना में ही उसे बल मिलता है और अनकट रूप से वर्तमान में प्राचीनता की फिर से प्रतिष्ठा देखना चाहता है।

'कविरत्न' जी में यदि वर्तमान सांस्कृतिक दुर्बलता का स्वीकार है तो 'हरिऔध' जी में अपनी प्राचीन संस्कृति की उच्चता की घोषणा। यदि कविरत्न' ने वर्तमान को अतीत की कथा के सहारे कहा है तो 'हरिऔध' में अतीत ही वर्तमान की शब्दावली में व्यक्त किया गया है। यदि 'कविरत्न' जी वर्तमान से हटकर अतीत की शरण में जाना चाहते हैं तो 'हरिऔध' जी अतीत को वर्तमान की सहायता के लिए लाते हैं। इस प्रकार नूतन और नवीन से दोनों कवि प्रभावित हुए हैं। 'कविरत्न' जी में क्षोभ के द्वारा इसकी व्यंजना हुई है और 'हरिऔध' जी में प्राचीन की बौद्धिक व्याख्या (Rationalism) द्वारा। 'हरिऔध' जी की इन विशेषताओं का निदर्शन उनके विख्यात ग्रंथ 'प्रियप्रवास' में मिलता है।

प्राचीन परंपरा और विशेषताओं की बौद्धिक व्याख्या में ही इस ग्रंथ का सांस्कृतिक महत्त्व है और इसकी नूतनता नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा में है। यद्यपि कवि का प्रयत्न यही रहा है कि इनका स्रोत या मूल अतीत में सिद्ध कर दे। राधा और कृष्ण के परंपरा-प्राप्त रूप की अप्रधानता इस काव्य की विशेषता है। कृष्ण के लोक-रंजक रूप के स्थान पर लोक-रक्षक रूप की प्रतिष्ठा इस बात का संकेत दे रही है कि पाश्चात्य संस्कृति की नूतन भावनाओं से कवि कितना प्रभावित हुआ है। इस काव्य-ग्रंथ में राधा और कृष्ण केवल प्रेमी और प्रेमिका के रूप में चित्रित न होकर लोक-कल्याण में अधिक दत्त-चित्त दिखाए गए हैं। प्रेम से अधिक कर्तव्य की महत्ता दिखाई गई है और इसी से मिलने की बलवती इच्छा के रहने पर भी दोनों आत्म-संयम रखकर विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा में अपना ध्यान देते हैं। लोक-कल्याण की इच्छा से कृष्ण राजनीति को अपनाते हैं और राधा दीन-दुखियों की सेवा में आत्मोत्सर्ग करती हैं।

राधा और कृष्ण के इस नवीन चित्रण में देवत्व को कोई स्थान नहीं मिला। कृष्ण केवल पुरुषोत्तम हैं और राधा दुःखियों का दुःख बँटानेवाली

उदार-हृदया नारी। इन लोगों की क्रीड़ा-केलि भी देवत्व से विहीन दिखाई गई है। अघासुर, बकासुर आदि संबंधी कृष्ण-चरित्र लोकोत्तर नहीं दिखाए गए हैं। ये राक्षस न होकर उत्पात करनेवाले लोक-पीड़क हैं। इनके अत्या-चार से जनता को और अपने संगी-साथी ग्वाल-बाल को बचाने के लिए कृष्ण वीर पुरुष के समान उनसे युद्ध करते हैं और अपने बल तथा नैपुण्य से उनपर विजयी होते हैं। इसी प्रकार कालिय-दमन भी लोकोत्तर नहीं दिखाया गया है और न वन का अग्निकांड राक्षस की करतूत बताई गई। इन सब घटनाओं को—जिनको कि परंपरा अभी तक लोकोत्तर देवत्व का परिधान पहनाती आई है—कवि ने दैवी घटनाओं का रूप न देकर मानुषी कृत्यों के रूप-रंग में ही ग्रहण किया है। जिनपर परंपरा का बहुत गहरा रंग था उनकी बुद्धि-संमत व्याख्या कर उनका असाधारणत्व हटाकर सहज रूप दिया गया है—जैसे वन की आग और तृणासुर की कथा।

इन सब घटनाओं के बीच से कृष्ण कुशल नेता के रूप में हमारे सामने आते हैं। जन-संघटन उनकी सबसे बड़ी विशेषता बन गई है। गोवर्धन पर्वत को उन्होंने उँगली पर तो नहीं उठाया, फिर भी भयंकर वर्षा से बचने के लिए उन्होंने समग्र ब्रज को पर्वत में उपयुक्त स्थान खोज दिया। वर्षा से उन्होंने सबको बचा लिया। कवि का कहना है मानो कृष्ण ने पर्वत को उँगली पर उठा लिया। गोवर्धन-गिरि-धारण की बौद्धिक व्याख्या का यह अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार कुछ वस्तुओं का उन्नयन (Sublimation) या नवीन प्रयोग भी दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिए हम 'नवधा भक्ति' को ले सकते हैं। 'नवधा भक्ति' का कवि ने देशभक्ति के क्षेत्र में प्रयोग किया है। अर्चन, वंदन आदि देश के गौरवार्थ भी प्रयुक्त हो सकते हैं। अभी तक ये भक्ति के क्षेत्र में ही परिमित थे। कवि ने इस प्रकार परंपरा को व्यापकता प्रदान की।

इस प्रकार इस काव्य-ग्रंथ में हमें कई नई चीजें देखने को मिलती हैं। विश्व-प्रेम, लोक-सेवा, बौद्धिक-व्याख्या, उन्नयन, नेतृत्व, संघटन, लोक-रक्षा, त्याग, कर्तव्य की महत्ता, देवत्व का त्याग आदि कई नवीन तत्त्व सामने आते

है। इनसे भी महत्त्वपूर्ण इस बात का संकेत है कि ये सब चीजें आज की नहीं हैं बल्कि अतीत में भी मिलती हैं। इस प्रकार कवि ने कृष्ण की कथा में नवीन तत्त्वों का समावेश कर कृष्ण-चरित्र के द्वारा देश के हितेच्छुओं को देशोन्नति का मार्ग प्रदर्शित किया।

कवि की इस मनोवृत्ति का कारण भी सहज ही समझ में आ जाता है। यह बताया जा चुका है कि यह हिंदू-जागरण का युग था। लोगों के हृदय में अपनी जाति और संस्कृति के प्रति गर्व भर रहा था। आर्यसमाज आदि के प्रभाव से अपनी उच्चता तथा उत्कर्ष का भाव हृदय में दृढ़ हो रहा था। कम से कम अतीत की भव्यता के विषय में तो किसी को संदेह या अविश्वास न था। कवि भी चाहते थे कि जनता के हृदय में यह भाव पैठ जाय क्योंकि आत्म-हीनता की भावना दूर हो सकेगी और जनता उन्नति कर सकेगी। किंतु एक कठिनता थी। देश में जहाँ हिंदुत्व की भावना थी वहाँ पाश्चात्य वैज्ञानिक संस्कृति भी प्रबल थी जो प्रत्येक वस्तु को बुद्धि के काँटे पर तौलकर ग्रहण करती थी या त्याग देती थी। पाश्चात्य वातावरण में पले हुए या अँगरेजी से प्रभावित लोगों को वही बात स्वीकृत थी जो बुद्धि को मान्य हो। बौद्धिकतावाद (Rationalism) इस योरोपीय सभ्यता की बहुत बड़ी विशिष्टता थी और इसका बड़ा प्रभाव था। रेशनलिस्ट या बुद्धि-वादी कहे जाने में लोग गर्व का अनुभव करते थे। इसीसे रेशनलिस्ट को हिंदू-संस्कृति की बहुत सी बातें मानने में आपत्ति थी और इसीसे कवि को देवत्व का निराकरण, लोकोत्तर का परित्याग और प्राचीन परंपरा की नवीन बुद्धि-संमत व्याख्या करनी पड़ी। इसीसे कृष्ण भगवान् न रहकर पुरुष हो गए और तृणासुर आँधी बना। इस प्रकार पाठकों के समान कवि भी (अप्रकट रूप से) पाश्चात्य संस्कृति के बौद्धिकतावाद से प्रभावित हुआ।

बौद्धिकतावाद के समान विश्व-प्रेम और लोक-सेवा की भी पाश्चात्य संस्कृति के संबंध में बहुत चर्चा हो रही थी। लोग योरोपीय संस्कृति के इन तत्त्वों की ओर आकृष्ट हो रहे थे और इनकी प्रशंसा कर रहे थे। इतना ही नहीं, वे अपने देश में इनका प्रयोग और उपयोग चाहते थे। जनता

की इसी इच्छा की तृप्ति 'प्रियप्रवास' में हुई है। 'प्रियप्रवास' में इसकी झलक इसलिए मिलती है कि कवि देश की उन्नति चाहता है और जानता है कि देश की उन्नति के लिए राधा और कृष्ण के समान श्रेय के लिए प्रेम की बलि चढ़ानेवाले और देश के लिए सब कुछ न्यौछावर करनेवाले स्त्री-पुरुषों की आवश्यकता है। देश को कृष्ण के समान विज्ञ और नीति-कुशल नेता की भी आवश्यकता है। इसी से कृष्ण का ऐसा बुद्धिग्राह्य लोक-हित-कारी रूप चित्रित किया गया है। उन्नति की भावना से प्रेरित होने के कारण ही कवि अपनी प्राचीन संस्कृति के भक्ति जैसे तत्त्व का भी देश-हित में प्रयोग कर रहा है और कंस तथा उसके सहायकों को केवल कृष्ण का वैय-क्तिक शत्रु न कहकर प्रजा-पीड़क के रूप में चित्रित किया गया है। इससे धर्म-भाव से अधिक देश-भक्ति का भाव प्रबल होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'हरिऔध' जी वर्तमान से यथेष्ट मात्रा में प्रभावित हुए हैं और उनपर आधुनिकता की छाप है, फिर भी उनके हृदय में अपनी जाति और अपनी प्राचीन संस्कृति के प्रति अत्यधिक अनु-राग है यद्यपि अंधानुकरण नहीं। इन्हीं दोनों विशेषताओं के कारण इन्होंने अपनी संस्कृति की प्राचीन कथा को ग्रहण कर प्राचीन परंपरा को बुद्धिग्राह्य बनाया और नूतन तत्त्वों का समावेश कर अपनी संस्कृति की उच्चता, उज्ज्वलता और शक्ति को घोषित किया और हिंदुओं में देश-भक्ति का उत्साह भरा। इस प्रकार 'हरिऔध' जी का अतीत-अनुराग अपने आप प्रकट हो रहा है। आधुनिकता को उद्घोषित करनेवाला बुद्धिवाद भी तो प्राचीनता-प्रेम का ही संकेत है क्योंकि प्राचीनता की बुद्धि-संमत नवीन व्याख्या का अर्थ है उसी की पुनः प्रतिष्ठा। 'हरिऔध' जी ने बौद्धिक व्याख्या के द्वारा प्राचीनता को वर्तमान के लिए ग्राह्य बनाकर उसकी प्रतिष्ठा ही की है। एक विद्वान् के शब्दों में बुद्धिवाद (Rationalism) स्वभावज की शक्ति है[1], यह हेतुवाद अभ्यासियों का साहसमात्र है; यह

१. Rationalism is only a buttress of the habitual; it avoids unpleasant demands and fortifies men in remaining wellset against upsetting elements.

—MODERN INDIAN CULTURE, by D. P. Mukerjee.

अरुचिकर जिज्ञासाओं से बचाता है और मानवों को अव्यवस्थाकारी तत्त्वों से बचाकर सुव्यवस्थित बनाए रखना है।

'कविरत्न' और 'हरिऔध' जी की मनोवृत्ति की झलक यद्यपि अनुरंजक और शिक्षाप्रद है, फिर भी बहुत कुछ वैयक्तिक प्रतीत होती है। युग की पूरी-पूरी झलक हमें मैथिलीशरण गुप्त में मिलती है। गुप्त जी के बिना द्विवेदी-युग का कोई भी परिचय या विश्लेषण अपूर्ण या अधूरा ही रहेगा। गुप्त जी हमारे प्रतिनिधि कवि हैं और 'भारतभारती' उस युग का दर्पण। इस काव्य-ग्रंथ में द्विवेदी-युग की प्रचलित सभी प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं। केवल इसी एक ग्रंथ से उस युग का पूरा परिचय मिल सकता है।

'भारत-भारती' उस युग तथा कवि के हिंदुत्व और अतीत-प्रेम को व्यक्त करती है। इसका प्रणयन भी हिंदुओं के उद्धार तथा उत्साहवर्धन के लिए हुआ है। यह हाली के मुसद्दस ('मदोजज्र-इसलाम') को लक्ष्य करके लिखा गया है। कवि के शब्दों में इस ग्रंथ की लेखन-कथा यह है—"इसके कुछ दिन बाद उक्त राजा साहब[1] का एक कृपापत्र मुझे मिला जिसमें श्रीमान् ने हाली के मुसद्दस को लक्ष्य करके इस ढंग की एक कविता-पुस्तक हिंदुओं के लिए लिखने का मुझसे अनुग्रहपूर्वक अनुरोध किया ... तथापि यह सोचकर कि बिल्कुल ही न होने की अपेक्षा कुछ होना ही अच्छा है, मैंने इस पुस्तक के लिखने का साहस किया।"[2]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रंथ का वस्तु-विषय कैसा होगा और किनको संबोधित किया गया होगा। 'भारतभारती' के 'वर्तमान खंड' में सामाजिक तथा आर्थिक अधःपतन का सीधे-सादे किंतु प्रभावपूर्ण शब्दों में संकेत दिया गया है। 'कविरत्न' के समान गुप्त जी अपनी जाति की गिरी दशा पर अत्यन्त क्षुब्ध हैं और विदेशी संस्कृति के प्राबल्य और अपनी आत्महीनता पर दुःख प्रकट करते हैं। उन्हें इस बात का दुःख है कि भारतवासी विदेशियों के अनुकरण में पड़े हैं, "हैं भारतीय परंतु बनते हम विदेशी सब कहीं।"[3]

---

१. राजा रामपाल सिंह कुर्रीसिधौली। २. प्रस्तावना, पृष्ठ ३।

३. भारत-भारती, पृष्ठ १५१।

वर्तमान दुरवस्था पर आँसू बहाने में ही गुप्त जी अपने कर्तव्य की इति-श्री नहीं समझ लेते, वरन् वे लोगों का ध्यान अतीत की भव्यता की ओर ले जाकर उनमें उत्साह भरते हैं। आज यद्यपि अतीत लुप्त हो गया है, फिर भी लोग उसकी गौरव-गरिमा का साक्ष्य दे रहे हैं। अतीत कपोल-कल्पित नहीं है।

"हैं रह गए यद्यपि हमारे गीत आज रहे-सहे।
पर दूसरों के वचन भी साक्षी हमारे हो रहे॥"[१]

इस प्रकार अतीत की सत्यता का विश्वास दृढ़ कर कवि अतीत के गौरव का विशद चित्र उपस्थित करता है जिसमें दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान, स्मृति सभी की विराटता प्रकट हो रही है।[२] 'संसार को पहले हमीं ने ज्ञान-शिक्षा दान की' जिस समय अन्य देश शैशव दशा में थे, हम सभी विषयों में प्रौढ़ता को प्राप्त हो गए थे। यह ठीक है कि पश्चिम बहुत उत्कर्ष कर रहा है, फिर भी भारतवर्ष ही उसका पूर्वगुरु है। 'वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है।'

"वह पुण्यभूमि प्रसिद्ध है, इसके निवासी आर्य हैं।
विद्या, कला, कौशल्य सबके जो प्रथम आचार्य हैं॥"[३]

इस प्रकार 'अतीत खंड' में अतीत-गौरव की झाँकी दिखाकर और लोगों में उत्साह भरकर कवि हिंदुओं का उद्बोधन और कर्तव्य के लिए आह्वान कर रहा है। 'हे आर्य संतानो उठो अवसर निकल जावे नहीं।' कवि चाहता है कि हिंदू जाति के सब वर्ग अपने पूर्व-निश्चित कर्त्तव्यों पर दृढ़ रहें—

"ब्राह्मण बढ़ावें बोध को, क्षत्रिय बढ़ावें शक्ति को।
सब वैश्य निज वाणिज्य को, त्यों शूद्र भी अनुरक्ति को॥"[४]

---

१. भारत-भारती, पृष्ठ ७।
२. वही, पृष्ठ ७।
३. वही, पृष्ठ ५।
४. वही, पृष्ठ १६३।

लोग अपने कर्तव्य का पालन करते रहें और तब तक विश्राम न लें 'जब तक कि भारत पूर्व के पद पर न पुनरासीन हो'।[1]

कवि की मनोवृत्ति के दिग्दर्शन के लिए उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण पर्याप्त होगा। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि का ध्यान मुख्यतया हिंदुओं की ओर है, यद्यपि इतना और जोड़ देना चाहिए कि उसका अन्य जातियों से विद्वेष नहीं है। इसी से हिंदुओं के इतिहास, साहित्य, दर्शन, धर्म आदि के उज्ज्वल उदाहरणों की ओर वह लोगों का ध्यान आकर्षित कर रहा है। कवि की अतीतोन्मुख दृष्टि के लिए और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

कवि की अतीतोन्मुख मनोदृष्टि का संकेत केवल इसी बात में नहीं मिलता कि वर्तमान से अधिक 'अतीत खंड' का विस्तृत चित्रण किया गया है और अतीत इतिहास को मुख्य आधार बनाया है, वर्तमान की आलोचना करते हुए भविष्य के जो आदर्श और संकेत दिए गए हैं उनमें भी इसी की झलक है। सामाजिक सुधारों का पक्षपाती होते हुए भी कवि पूर्व-प्रतिष्ठित वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा बनाए रखना चाहता है। वह हिंदू-जाति की वर्ण-व्यवस्था में कोई उलट-फेर नहीं करना चाहता है। इसीसे वह प्रार्थना और आशा करता है कि सब अपने कर्तव्यों पर दृढ़ रहेंगे। अर्थात् ब्राह्मण ज्ञान का अर्जन करेंगे, क्षत्रिय बल की वृद्धि करेंगे, वैश्य वाणिज्य-व्यवस्था बढ़ावेंगे और शूद्र सेवा में तन्मय रहेंगे। सांस्कृतिक संघर्ष का जो प्रभाव हमारी सामाजिक व्यवस्था पर पड़ रहा था, कवि उसके मूल में न गया। उसने केवल ऊपरी सुधार-योजना से अपने को संतुष्ट रक्खा था। इस प्रकार कवि के सामाजिक उद्गारों और सुधारों में जो आधुनिकता मिलती है उनके मूल में अतीत-प्रेम छिपा हुआ है। भविष्य की उन्नति का मान-दंड भी अतीत ही बना रहा है। वह भविष्य में भारत को पूर्व के पद पर पुनरासीन देखना चाहता है। बीते हुए दिन फिर वापस आ जाएं ऐसी उसकी मनोकामना है।

इस प्रकार अतीत-प्रेम से प्रेरित होकर कवि ने अतीत के गुणगान के द्वारा भी जनता के हृदय में अपनी संस्कृति के प्रति प्रेम और उत्साह भरा और

---

१. भारत-भारती, पृष्ठ १६३।

उन्नति की इच्छा को बलवती बनाया, फिर अतीतानुराग ने वर्तमान की अवहेलना न की। 'कविरत्न' के समान गुप्त जी भी वर्तमान दुरवस्था से क्षुब्ध हैं और 'हरिऔध' के समान उनके कथा-काव्यों में वर्तमान झाँकता है। 'प्रियप्रवास' के समान 'द्वापर' और 'साकेत' की भी कथावस्तु अत्यंत प्राचीन है और 'प्रियप्रवास' के समान ही इन प्राचीन कथानकों में वर्तमान की समस्याएँ मिलती हैं। 'द्वापर' में 'कंस' में साम्राज्यवाद का शोषण है। 'साकेत' में कृषक और युद्ध तथा शांति की समस्या है।

इस प्रकार इन तीन कवियों की मनोदृष्टि और इनके काव्यों के विश्लेषण से इस युग की प्रवृत्ति का परिचय मिल जाता है। तीनों की मनोदृष्टि मूल में एक होते हुए भी विभिन्न है। वर्तमान का सुधार तीनों कवि चाहते हैं, फिर भी सत्यनारायण 'कविरत्न' में वर्तमान का क्षोभ और प्राचीन के लिए मूक प्रार्थना है, 'हरिऔध' जी में वर्तमान की शब्दावली में प्राचीन की बौद्धिक व्याख्या है और गुप्त जी में वर्तमान में प्राचीन की पुनः प्रतिष्ठा की अभिलाषा और प्रयत्न। वर्तमान का स्पष्ट स्वीकार किसी में नहीं है। इसी प्रकार वर्तमान दुर्दशा पर क्षोभ तो सबमें है किंतु दुरवस्था उपस्थित करनेवाले उन (Sociological Factors) मूल सामाजिक और आर्थिक कारणों तक किसी की दृष्टि न पहुँची, जिनसे यह उलट-फेर संभव हुआ।

इस उथल-पुथल का मूल कारण हमारी गुलामी और विदेशी शासन में है जिसने डेढ़ सौ वर्ष में यहाँ का आर्थिक ढाँचा ही बदल दिया है। यह कहा जा चुका है कि ब्रिटिश शासन ने भारतीय व्यवसाय-धन को (Commerce capital) उखाड़ फेंका और अपनी कंपनी और एजेंसियों को जमा दिया। इससे भारत का मध्यम वर्ग, जो व्यापारी वर्ग था, अपदस्थ हो गया। इस तथ्य का भी संकेत दिया जा चुका है कि सांस्कृतिक दृष्टि से ब्रिटिश शासन का महत्त्व तनख्वाह पर बसर करनेवाले पेशावर वर्ग के उत्पादन में है जिसने मध्यम वर्ग का स्थान ग्रहण किया। इस कृत्रिम और खोखले मध्यम वर्ग में अधिकारों से वंचित और अपने जन्मजात वातावरण से दूर फेंके हुए सभी लोग आ गए। इस वर्ग में वे लोग भी आए जिनकी शिक्षा-दीक्षा अँगरेजी में हुई थी और जो प्रचलित शैक्षिक नीति के परिणाम-स्वरूप

भारत के साधारण जन-समुदाय और जन-जीवन की सच्ची सामाजिक और आर्थिक यथार्थता से दूर जा पड़े। यह कहा जा चुका है कि अधिकारियों की शिक्षा-नीति ने जन-समुदाय को वर्ग से और गाँव को शहर से अलग कर दिया। इस प्रकार मध्यम वर्ग और सामान्य जनता के बीच की खाई दिन-प्रति-दिन चौड़ी और गहरी होती गई। इस प्रकार कृषिप्रधान आर्थिक अवस्था (Feudal economy) से औद्योगिक अवस्था (Industrial economy) के सहज स्वाभाविक विकास का क्रम टूट गया और मध्यम वर्ग देश के सामाजिक और आर्थिक विकास में योग न दे सका। सब प्रकार की अनभिज्ञता ही इसकी विशेषता बन गई।[१]

मध्यम वर्ग सामान्य जनता के जीवन और देश की चिरंतन परंपराओं से केवल अनभिज्ञ ही और दूर ही न रहा प्रत्युत उसकी अन्य इच्छाएँ भी पूर्ण न हो सकीं। अँगरेजी शिक्षा में पारंगत हो जाने पर भी उसे अधिकारियों से समानता का व्यवहार न मिल सका। राजनीतिक अधिकारियों की तो चर्चा ही व्यर्थ है। पढ़ने लिखने के बाद मध्यम वर्ग को यह कटु अनुभव हुआ कि उसकी शिक्षा शासन-स्वत्व सँभालने के लिए न होकर दफ्तर में क्लर्की करने के लिए हुई है। परिस्थिति की कटुता ने मध्यम वर्ग के हृदय में निराशा और असंतोष को भर दिया। सामान्य जन-जीवन से बहिष्कृत या योग देने की अक्षमता ने इसे और भी द्विगुणित किया। इस असंतोष ने उसे विदेशी शासन के प्रतिवाद के लिए तैयार किया और वह राष्ट्रीयतावादी बना। साथ ही वह अपने वर्ग की स्थिति के लिए नैतिक आधार ढूँढ़ने को उन्मुख हुआ। तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक आंदोलन से उसे बड़ा सहारा मिला। इन

---

१. The fact of the matter is that we are not conscious today of the earlier traditions, myths, legends and symbols. We, of course, are the middle class Indians of today, among whom an ignorance of the stories from Ramayan and Mahabharat, what to speak of the meaning of lotus motif or a Mudra is a part of culture.

—MODERN INDIAN CULTURE by D. P. Mukerjee.

आंदोलनों के अतीत गौरव के गान की भनक उसके कान में भी पड़ी। इससे उसे आत्मबल का अनुभव हुआ और उसमें विदेशी शासन का प्रतिवाद करने का साहस हुआ। अपने वर्ग और सामान्य जनता के बीच जो खाई थी उसे वह अतीत गौरवगान और राष्ट्रीयता से पाटने का यत्न करने लगा। इस प्रकार मध्यम वर्ग के जागरण के फल-स्वरूप अतीत-गौरव-गान और राष्ट्रीयता इस युग के जागरण की विशेषता बनी जिसकी झलक हम काव्य के बीच देख चुके हैं। मध्यम वर्ग इसी राष्ट्रीयता और गौरव-गान में तन्मय होकर अपनी त्रिशंकु की सी स्थिति को भूलने का प्रयत्न करने लगा।[1]

हम पहले कह चुके हैं कि मध्यम वर्ग की यह राष्ट्रीयता बहुत व्यापक न थी। वह अपनी समस्याओं तक ही परिमित थी। समानता का व्यवहार और अच्छी संख्या में ऊँची नौकरियों की प्राप्ति उसकी राष्ट्रीयता के आधार थे। किसानों की समस्या या मजदूरों की दशा उस समय तक राष्ट्रीयता का आधार न बनी थी। जैसे उसकी राष्ट्रीयता उसकी अपनी समस्या से परिमित थी वैसे ही उसकी देशोन्नति की भावना भी अज्ञात (Unconscious) रूप में अपनी जाति की परिधि में थी। अनजान में उसकी राष्ट्रीयता भारतवासी का अर्थ हिंदू समझने लगी और हिंदू उसके लिए मध्यम वर्ग का पर्याय था जो क्लर्की से कदापि संतुष्ट न होगा। यह तत्कालीन मध्यम वर्ग या हिंदू की राष्ट्रीयता का विश्लेषण है।

---

१. मध्यम वर्ग की कृत्रिमता, सामान्य जनता के बीच की खाई, परवशता और उसकी मनोवृत्ति का समाज-वैज्ञानिक-विश्लेषण निम्नलिखित उद्धरण में स्पष्ट है—

India did not have a genuine middle class; she was forced to have a substitute group, she felt baulked in every way; she did not have any interest in the soil excepting in what it could yield in the way of surplus and unearned increment. She was not economic conscious, she only cherished her glories. The greater the feeling of deprivation the greater the sentimentality.

—MODERN INDIAN CULTURE
by D. P. Mukerjee, Page 145.

यदि हम कांग्रेस का इतिहास देखें तो यह बात स्वतः स्पष्ट हो जाती है। तिलक के पूर्व कांग्रेस उच्च मध्यम वर्ग के हाथ में थी। तिलक के अनुयायियों के समावेश से कांग्रेस मध्यम मध्य वर्ग की भावना मुखरित करने लगी। १६१६ में कांग्रेस की बागडोर जब महात्मा गाँधी के हाथ में आई तब निम्न वर्ग का समावेश हुआ और फिर गाँधीजी के प्रभाव से कृषक वर्ग और मजदूर वर्ग की ओर कांग्रेस का ध्यान गया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी-युग अँगरेजी जाननेवाले मध्यम मध्य वर्ग का समय है।

इस परिस्थिति से अवगत हो जाने पर काव्य की प्रवृत्तियाँ अपने आप स्पष्ट हो जाती हैं और समझ में आ जाती हैं। जब हम मध्यम वर्ग की मनो-वृत्ति के ऐतिहासिक तथा शैक्षिक वातावरण से परिचित हो जाते हैं और देखते हैं कि उसे अपनी कृत्रिम स्थिति के लिए कोई आधार नहीं मिल रहा है और वह सबसे अलग है तो उसका अतीत प्रेम और राष्ट्रीयता (और उसके रूप) की ओर झुकाव अत्यंत स्वाभाविक प्रतीत होता है। फलतः काव्य के बीच अतीत-प्रेम, हिंदुत्व और राष्ट्रीयता की प्रवृत्तियाँ अत्यंत सहेतु और स्वाभाविक प्रतीत होने लगती हैं, क्योंकि हम जानते हैं कि कवि और पाठक दोनों मध्यम वर्ग के हैं। मध्यम वर्ग की भावना को मुखरित और प्रतिबिंबित करनेवाली 'भारतभारती' की विशिष्टता और लोक-प्रियता भी सहज ही समझ में आ जाती है।

यहाँ पर द्विवेदी-युग के कवियों और विशेषतया 'भारतभारती' के कवि के विषय में दो-चार शब्द और जोड़ देने की आवश्यकता है। जब हम यह कहते हैं कि ये कवि अतीतोन्मुख हैं या हिंदुत्व से परिपूर्ण हैं तो इसका यह आशय कदापि नहीं है कि वे जान-बूझकर वर्तमान की तथा अन्य जातियों की अवहेलना करना चाहते हैं। यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि इन कवियों में रंच मात्र भी विद्वेष नहीं है और जब वे भारत की उन्नति की कामना करते हैं तो किसी जाति को उससे वंचित नहीं रखना चाहते। संक्षेप में उनका अतीत-प्रेम और हिंदुत्व उनकी मानसिक संकीर्णता का द्योतक न होकर परिस्थिति की परवशता और दुर्बलता का परिचायक है। इसलिए काव्य की इन प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित करते हुए भी वे इनके लिए

उत्तरदायी नहीं हैं, क्योंकि कुछ कवि समय के साथ-साथ आगे बढ़ते गए हैं

कम से कम द्विवेदी-युग का प्रमुख और प्रतिनिधि कवि समय के साथ-साथ चलता रहा है और आज भी हमारे भावद्वंद्वों को मुखरित कर रहा है। द्विवेदी-युग के अनुरोध से ही मैथिलीशरण गुप्त का परिचय देते हुए हमें अपने को तत्कालीन स्फुट रचनाएँ, 'भारतभारती' और 'साकेत' तक परिमित रखना पड़ा है। वैसे समय के साथ-साथ गुप्त जी की विचारधारा उत्तरोत्तर उदार और विकसित होती गई है। प्रतिनिधित्व करते हुए भी वे समय से कुछ आगे ही रहे हैं इसीसे साहित्य के बीच लोकप्रिय भी रहे और सफल नेतृत्व भी कर सके। युग की भावनाओं को प्रतिबिंबित करनेवाली 'भारतभारती' में भी उनकी प्रगतिशीलता के बीज छिपे हुए हैं। कवि में समय की गतिविधि को परखने की अतुलित शक्ति है और वह इसका उपदेश 'भारतभारती' में देता है। 'हमको समय को देखकर ही चलना चाहिए।'[१] यह उसका सिद्धांत-वाक्य रहा है और इसीमें उसकी सफलता और लोकप्रियता का रहस्य है। प्राचीनता का गुण-गान करता हुआ भी वह उसका अंधभक्त नहीं है। समय और परिस्थिति को देखकर ही उनका त्याग या ग्रहण उचित है। 'प्राचीन बातें ही भली हैं यह विचार अलीक है।'[२] और इसीसे उसका कहना है कि 'जैसी अवस्था हो जहाँ वैसी व्यवस्था ठीक है।' इसी प्रकार भारतभूमि का महत्त्व बताते हुए भी वह लोगों को सावधान करता है कि 'समझो न भारत-भक्ति केवल भूमि के ही प्रेम को।'[३] सच्ची भारत-भक्ति भारतवासियों के क्षेम में है। 'चाहो सदा निज देशवासी बंधुओं के क्षेम को।' इस प्रकार गुप्त जी की प्रगतिशीलता के दर्शन द्विवेदी-युग के प्रतिनिधित्व के बीच भी होते हैं। इस प्रकार गुप्त जी समय की गतिविधि को समझते हुए जनता के भावों को प्रकट करते हुए साहित्य के बीच जनता की भावना को उत्तरोत्तर उदार और व्यापक बनाते रहे।

---

१. भारतभारती, पृष्ठ १६०।

२. वहीं, पृष्ठ १३०।

३. वहीं, पृष्ठ १३४।

द्विवेदी-युग के संबंध में यद्यपि दो ही तीन कवियों का संकेत दिया गया है, फिर भी यह सभी जानते हैं कि इस युग के प्रमुख कवियों की संख्या तीन से अधिक है। अन्य कवियों के विषय में इसलिए नहीं लिखा गया है कि वे भी अधिकतर इन्हीं विचारों से प्रभावित हैं और उनकी रचनाएं भी प्रायः वे ही प्रवृत्तियाँ प्रकट कर रही हैं, फिर भी कुछ कवि ऐसे हैं जिनकी रचनाओं में ऐसी भावनाओं के बीज हैं जिनसे काव्य में आगे चलकर नई प्रवृत्तियाँ विकसित हुईं। द्विवेदी युग की भावनाओं को मुखरित और प्रतिबिंबित करते हुए इन कवियों ने कुछ ऐसी नूतन विचारवाली कविताएँ भी लिखीं जिनसे जन-मन आकृष्ट हुआ और काव्य में नवीन प्रवृत्ति का जन्म हुआ। द्विवेदी-युग के अंतिम वर्षों की इन रचनाओं से ही आधुनिक युग की छायावाद और रहस्यवाद की प्रवृत्तियाँ विकसित हुई हैं और प्रगतिवाद का संबंध भी इनसे जोड़ा जा सकता है।

प्रियप्रवास की लोक-सेवा और विश्व-प्रेम के विषय में लिखते हुए हम कह चुके हैं कि उस समय पाश्चात्य संस्कृति के संबंध में इनकी बड़ी चर्चा हो रही थी। पाश्चात्य संस्कृति के मानवतावाद (Humanism) का उस समय काफी जोर था। मानवतावाद के लोक-सेवा और विश्व-प्रेम के इन तत्त्वों का उस समय बड़ा आदर था और लोग इनका समावेश भी चाहते थे।[१]

रवींद्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' से और भी प्रेरणा मिली। फलतः हिंदी के कवि भी इधर उन्मुख हुए। उनकी कल्पना जाग्रत् हुई। कई कवियों ने

---

१. मानवता-वाद के विश्व-प्रेम और लोक-सेवा के संबंध में इतना कह देना आवश्यक है कि भारतवर्ष के लिए ये तत्त्व नये नहीं हैं। यद्यपि तत्कालीन ईसाई संस्कृति इनको अपना मुख्य आधार बताकर अपनी सभ्यता के उत्कर्ष की घोषणा कर रही थी, फिर भी हिंदी के प्रमुख कवि अपने दर्शन और संस्कृति के बीच इनसे अपरिचित न थे। फिर भी इतना कहना पड़ेगा कि अपनी संस्कृति से अनभिज्ञ अँगरेजी पढ़े। लिखे युवक मानवतावाद के लिए ही ईसाई संस्कृति को बड़ी श्रद्धा से देखते थे और उसे अपने साहित्य में भी देखना चाहते थे। कवियों ने इस लोक-रुचि को अपनाया और काव्य के बीच अपने ढंग पर उन तत्त्वों का विकास किया। कवियों ने अंधानुकरण न कर अपनी मौलिकता और क्षमता का परिचय दिया।

अपने-अपने ढंग से इसकी व्यंजना की। किसी ने उस परम भावमय की झाँकी व्यक्त जगत् के बीच देखी और 'कीट, पशु, नर' सबको एक ही चेतन सूत्र के बीच पिरोए हुए पाया। कोई रहस्योन्मुख हो गया और प्रेम के आवेग और आवेश से भर बाह्य आडंबर को छोड़ उपास्य देव को अपने हृदय-मंदिर में देखने लगा और आत्मसमर्पण के गीत गाने लगा। किसी को इस जगत् की छवि उस दिव्य सौंदर्य की झलक प्रतीत हुई और किसी को ईश्वर के दर्शन अबोध शिशु की मुस्कान, रमणी के पातिव्रत बल में तथा किसी को कृषक के परिश्रम और दीन-दुखियों की सेवा में हुए।

ऐसे कवियों में सर्वश्री रामचंद्र शुक्ल, गोपालशरणसिंह, 'मुकुटधर' और मैथिलीशरण गुप्त का नाम प्रमुख है। पं० रामचंद्र शुक्ल गंभीर, किंतु सरस हृदयवाले थे। वे प्रकृति के सच्चे प्रेमी थे और प्रकृति के खुले क्षेत्र में उस अव्यक्त की छटा को देखना चाहते थे। वे प्रकृति पर अपने भावों का आरोप न कर उसका विमल स्वरूप देखते थे। प्रकृति के कोमल तथा भयंकर दोनों रूपों से उनको प्रेम था। इसी प्रकृति-प्रेम के सहारे वे उस तक पहुँचना चाहते थे। इस प्रकृति-रूपी मानस में उसकी छाया पड़ रही है। इतना ही नहीं, मनुष्य के निर्मल मानस में भी परम भावमय की अंशच्छाया पड़ती है।[१]

"मानव-मानस-मुकुर महा खुल पड़ा मही पर।
सदा अमलता में जिसकी पड़ती है आकर।
परम भावमय के भावों की अंशच्छाया।"

प्रकृति-प्रेम ने उनके हृदय को इतना उदार बना दिया था कि उसमें सारे विश्व के लिए स्थान था। शुक्ल जी के हृदय में भेद-भाव न था क्योंकि "तृण, कृमि, पशु, नर आदि इसी जाग्रति के क्रम हैं, जगने में कुछ बढ़े हुए कुछ उनसे कम हैं।"[२] इस प्रकार प्रकृति-प्रेम ने शुक्ल जी को उदारता प्रदान की। शुक्ल जी के समान गोपालशरणसिंह भी प्रकृति के बीच उसी की छवि को देखते हैं—

---

१. कविता-कौमुदी, पृष्ठ ४०७।
२. वही, पृष्ठ ४०७।

"वन उपवन में, सरोज में, सरोवर में,
सुमन सुमन में उसी की सुघराई है।"

और

"जहाँ देखो वहाँ वही छवि दिखलाई देती।"[1]

शुक्ल जी और गोपालशरणसिंह की अपेक्षा 'मुकुटधर' की दृष्टि अधिक रहस्योन्मुख है। वे ईश्वर को व्यक्त जगत् के बीच न ढूँढ़कर सत् भावों में पाते हैं। ईश्वर के दर्शन उनको सत्यता, सरलता और सेवा में मिलते हैं।

"दीन हीन के अश्रु-नीर में,
......सरल स्वभाव कृषक के हल में,
तेरा मिला प्रमाण।"[2]

इसी प्रकार पर-पीड़न से रहित धर्म में उसका संकेत मिलता है।

रहस्यात्मकता, गीतात्मकता, आत्मसमर्पण और भावावेश का अत्यधिक परिमाण मैथिलीशरण गुप्त के गीतों में मिलता है। जिस प्रकार उन्होंने द्विवेदी-युग का प्रतिनिधित्व किया उसी प्रकार छायावाद के सूत्रपात में भी उनका प्रधान योग है। छायावाद के प्रवर्तकों में इनका भी नाम लिया जाता है। इनके गीतों में साधना और सांकेतिकता है। कवि बाह्याडंबर में न पड़कर जब मंदिर के द्वार से भीड़ के कारण लौट आता है तो अपनी कुटी के भीतर अपने उपास्य देव को खड़ा पाता है। इन गीतों की भावना अत्यंत कोमल है और कवि का आत्मीय राग प्रकट हो जाता है।

इस प्रकार हम इन कवियों को द्विवेदी-युग के अंत में अज्ञात रूप से एक नई धारा के प्रवर्तक रूप में पाते हैं। रहस्यात्मक सत्ता की खोज, अंतर्मुखी प्रवृत्ति, प्रेम, समर्पण और प्रतीकात्मकता का आरंभ हुआ। बीज-रूप में पाए जानेवाले ये भाव आगे चलकर एक नई प्रवृत्ति के रूप में विकसित हुए। इनका विचार छायावाद के प्रकरण में किया जायगा। यहाँ पर केवल

---

१. कविता-कौमुदी, पृष्ठ ५३०।

२. वही, पृष्ठ ५५५।

इतना कहना है कि समय की गति और पाठकों की रुचि को देखकर इन कवियों ने अपने में अत्यंत सामयिक और स्वाभाविक परिवर्तन कर तत्कालीन तत्वों का समावेश इस ढंग से किया कि उनकी कृतियाँ पाठकों को मौलिक और नूतन प्रतीत हुईं। पाश्चात्य संस्कृति के मानवतावाद से ये कवि प्रभावित हुए या नहीं यह प्रश्न विवादास्पद हो सकता है, किंतु इन कवियों ने जिस ढंग से इसको अपनाकर अत्यंत प्रकृत और स्वाभाविक रचना की, उसका अनूठापन सबको मान्य है। फलतः पाठकों ने ऐसी रचनाओं का स्वागत किया।

इस प्रकार कवियों ने समय को पहचाना और लोक-रुचि को परखा। द्विवेदी-युग का संपूर्ण काव्य कवियों की इस संवेदनशीलता की कथा कह रहा है। भारतेंदु-युग के कवियों के समान इन लोगों ने भी सांस्कृतिक रक्षा में योग दिया और अपनी विशिष्टता बनाए रखने की चेष्टा की। भारतेंदु-युग ने 'भाषा, भोजन, भेष' की रक्षा के द्वारा सांस्कृतिक रक्षा का संकेत किया। द्विवेदी-युग ने अतीत का भव्य चित्र उपस्थित कर जनता में जातीय अभिमान की भावना भरकर अपनी संस्कृति की उच्चता का विश्वास दृढ़ किया। इस प्रकार दोनों युगों के कवियों ने अपने-अपने ढंग पर पाश्चात्य संस्कृति के कुप्रभाव को कम और दूर करने की चेष्टा की।

द्विवेदी-युग का उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय इस बात का भी द्योतक है कि अतीतोन्मुख होते हुए भी ये कवि वर्तमान से न अनभिज्ञ हैं और न विमुख हैं। यदि यह कहा जाय कि वर्तमान को सुंदर बनाने की इच्छा से ही ये कवि अतीत की ओर मुड़े तो अत्युक्ति न होगी। इतना ही नहीं, इन कवियों ने बड़ी उत्सुकता से तत्कालीन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक आंदोलनों का स्वागत किया और समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न किया। देश की उन्नति में योग देनेवाले प्रत्येक नए विचार को इन्होंने मुखरित किया। ये कवि सामाजिक सुधारों के पक्षपाती थे, आर्थिक क्षेत्र में 'स्वदेशी' के गीत गाकर इन्होंने देश की आर्थिक दशा सुधारने का प्रयत्न किया और राजनीतिक क्षेत्र में देशभक्ति का स्वर इन कवियों के कंठ से फूटा। इस देश-

भक्ति में वर्तमान दुरवस्था पर क्षोभ, अतीत की भव्यता पर गर्व, जन्मभूमि की सुषमा का गान, देशहित के लिए सर्वस्व त्याग और विविध जातियों में प्रेम और एकता का उपदेश था। हिंदू जाति को जगाने के साथ-साथ विविध जातियों के बीच एकता स्थापित करने का प्रयत्न भी इन कवियों ने किया। इसी प्रकार मध्यम वर्ग की राष्ट्रीयता चाहे अपनी ही समस्याओं तक परिमित रही हो फिर भी 'सनेही' और 'मैथिलीशरण गुप्त' ने भारतीय कृषक की ओर भी ध्यान दिया। इसलिए ये कवि अतीत को चाहे जितनी प्रेम-भरी दृष्टि से देखते रहे हों, ये पलायनवादी नहीं थे। अतीत-प्रेम के कारणों का संकेत किया जा चुका है। दूसरे, हमारा अतीत इस योग्य था कि उस-पर गर्व किया जाय। इसलिए ये कवि गर्व करते थे और चाहते थे कि अन्य भी उसे प्रेम और उत्साह से अपना समझें। अतीत-प्रेम के द्वारा वे देश को उन्नति के पथ पर अग्रसर कर रहे थे।

अतीत-चित्रण के साथ-साथ इन कवियों ने जनता की भावना को भी मुखरित किया। प्रतिनिधि कवि की उपाधि भी इसी तथ्य का संकेत कर रही है, फिर भी यह कहना होगा कि इस प्रतिनिधित्व के साथ सफल नेतृत्व भी था। लोक-रुचि को परितृप्त करने के साथ-साथ लोक-रुचि का परिष्कार भी किया गया। जिस प्रकार कवि अंधानुकरण के पक्षपाती नहीं थे उसी प्रकार लोक-रुचि के भी अंधानुयायी नहीं थे। उनमें संग्रह और त्याग का विवेक था। इसलिए जहाँ उन्होंने जनरुचि को पथभ्रष्ट होते देखा वहाँ उसे सावधान किया। जहाँ उन्होंने पाश्चात्य रंग-ढंग का आधिक्य देखा वहाँ सचेत किया और कभी-कभी उपहास किया। इस प्रकार पश्चिम की आँधी को इन कवियों ने बहुत कुछ रोक दिया।

इस प्रकार द्विवेदी-युग के कवियों ने साहित्य, जाति और देश की सेवा की और कवि के स्वतंत्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा बनाये रखी। अतीत का चित्रण करते हुए भी ये कवि वर्तमान को न भूले। सांस्कृतिक रक्षा के साथ-साथ सुधार का भी ध्यान रखा और जाति का अभ्युत्थान चाहते हुए देशहित का गान गाया। हिंदू होते हुए भी ये कवि भारतीय थे। इनमें जातीयता थी,

कनु सांप्रदायिकता न थी। सच्चे कवि के समान ये युग से प्रभावित भी हुए और उसपर अपनी छाप भी लगा दी और इस प्रकार काव्य को उन्नतिशील बनाया। इस प्रकार द्विवेदी-युग का काव्य जहाँ एक ओर सांस्कृतिक संपर्क, संघर्ष और संस्कार की कथा कह रहा है वहाँ इन कवियों की सहानुभूति, सचाई और स्वतंत्र तथा उदार व्यक्तित्व का संकेत दे रहा है। इसी में इन कवियों की सफलता और इसी में इन कवियों की महत्ता है।

छायावाद और प्रगतिवाद

द्विवेदी-युग के अंत में काव्य में जो नई प्रवृत्तियाँ प्रस्फुटित हुई उनको 'छायावाद' का नाम मिला। कुछ लोगों ने इस काव्य को रहस्यवाद की संज्ञा भी दी। इस छायावादी (या रहस्यवादी) कविता का आरंभ द्विवेदी-युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया रूप में हुआ था।

छायावाद की यह प्रतिक्रिया भाषा, भाव, शैली सभी में दिखाई पड़ी। द्विवेदी-युग का काव्य इन नवीन कवियों को काव्यत्व से विहीन जान पड़ा। उनको इसमें न भाव-सौंदर्य मिला और न शब्द-सौंदर्य, अभिव्यंजन की प्रणाली में भी कोई मौलिकता न थी। कवियों का असंतोष निराधार न था क्योंकि द्विवेदी-युग की कविता इतनी गहरी न हो सकी कि हृदय को छू लेती। उस समय की कविता अधिकांश मे बाह्यार्थनिरूपक है, किंतु उसमें व्यापकता नहीं है। वह ऊपरी तल पर है। सामाजिक रीति-नीति पर भी लिखा गया है, लेकिन उसमें भी सूक्ष्म पर्यवेक्षण नहीं मिलता। कवि ऐसे विषयों की ओर उन्मुख है जिनके सामान्य धर्मों पर वह पद्यबद्ध वक्तृता दे सके। झूठी दार्शनिकता का आभास मिलता है और काव्य के बीच बौद्धिकता की प्रधानता है। संश्लिष्ट चित्रण की अपेक्षा विश्लेषण की ओर कवियों की अधिक रुचि है।

इसी से कवियों ने 'साहस', 'संतोष' ऐसे सूक्ष्म विषयों को चुना और उनके सामान्य धर्म या उनकी महत्ता पर खूब लिखा। यदि 'ग्रंथगुणगान' और 'कवि या समालोचक' को कविता का विषय बनाया तो अपनी सूझ और बुद्धि-चमत्कार का प्रदर्शन किया। एक प्रकार से कविता ने आलोचना का परिधान धारण कर लिया और काव्य 'पद्यात्मक निबंध' बन गया, जिसमें यथातथ्य कथन का प्राचुर्य रहता था और रसात्मकता की न्यूनता थी। इस प्रकार बौद्धिकता, आलोचनात्मक प्रवृत्ति, विश्लेषण, बाह्यार्थ-निरूपण, भावात्मकता और गहरी संवेदनशीलता का अभाव—द्विवेदी-युग की इन

नव प्रवृत्तियों का आतिशय्य—छायावाद के आरंभ और प्रवर्तन का कारण बना।

छायावाद के प्रवर्तन का एक कारण काव्य-भाषा में भी मिल सकता है। द्विवेदी-युग में खड़ी बोली काव्य-भाषा के पद पर आसीन हुई, किंतु उसमें न ब्रजभाषा का लोच था, न अभिव्यंजन-शक्ति और न संगीतात्मकता, अपितु कुछ कर्कशता थी। यह भी कहा जाता है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी गद्य और पद्य की भाषा में समानता रखना चाहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि काव्य की भाषा गद्यवत् तथा नीरस हो गई क्योंकि बहुत से कवियों पर द्विवेदीजी का प्रभाव था। इस प्रकार द्विवेदी-युग की भाषा के प्रति भी असंतोष हुआ। पाठक भाषा में संगीतात्मकता और नाद-सौंदर्य चाहते थे। पाठकों की रुचि पहचाननेवाले कवि भी 'कोमल कांत' पदावली के लिए लालायित हुए और उसकी साधना और आराधना में तत्पर हुए। छायावादी कविता में संगीतात्मकता यथेष्ट मात्रा में थी।

भाषा से अधिक शैली और अभिव्यंजना की नवीन प्रणाली छायावादी कविता की विशेषता बन गई। छायावादी काव्य अधिकतर प्रगीत मुक्तक की शैली में लिखा गया। कविताएं कवियों की उद्दीप्त अनुभूति और कल्पना की प्रतिमा बन गई जिनमें कवियों का आत्मीय राग था और प्रभावपूर्ण बनाने के लिए नवीन प्रतीकों का प्रयोग भी था। इस प्रकार छायावाद की प्रतिक्रिया सर्वांगीण थी। द्विवेदी-युग की सभी प्रवृत्तियों के विरुद्ध उसका आविर्भाव हुआ था, इसी से उसमें नवीन परिवर्तित मनोदृष्टि, भाव, भाषा और शैली की मौलिकता के दर्शन होते हैं।

छायावाद की प्रमुख विशेषता उसकी परिवर्तित मनोदृष्टि में है। छायावादी कविता में बाह्य वास्तविकता से अपने को अलग करने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। छायावादी कवि बाह्य पदार्थों के वर्णन विश्लेषण में प्रवृत्त न होकर अपनी आंतरिक अनुभूतियों में अधिक संलग्न प्रतीत होते हैं। बाह्यात्मकता से अधिक अंतर्दर्शन की प्रवृत्ति छायावादी कविता की प्रधान विशिष्टता है। इस अंतर्मुखी प्रवृत्ति का कारण कवि का विश्वास है कि इस संसार में जीवन तभी संतोषप्रद, पूर्ण तथा परिपक्व हो सकता है जब कि मस्तिष्क बाह्य पदार्थों से विमुख होकर

अपने अंतर को देखे। इस प्रकार मनोदृष्टि के केंद्र परिवर्तित होने से वह मानव बाह्यार्थ की अपेक्षा अंतःप्रवृत्तियों के आग्रह से उसका अभ्यंतर—बाह्य रूपों के बीच छिपी हुई—उस परम वास्तविकता की उपस्थिति का अनुभव कर सकेगा। अपने विश्वास को अंतर्मुखी बनाने पर ही उसका साक्षात्कार किया जा सकता है।

इस प्रकार छायावादी कवि केवल बाह्यार्थ की अप्रधानता ही नहीं घोषित करता, अपितु उसके लिए वह वास्तविक भी नहीं है। वह अपने हृदय की आंतरिक अनुभूतियों को ही अधिक यथार्थ और महत्त्वपूर्ण मानता है। उसके लिए अपनी अनुभूतियाँ और अपनी विधायक कल्पना ही बाह्य पदार्थों से अधिक सत्य है। ये बाह्य रूप क्षण-क्षण परिवर्तित होते रहते हैं, किंतु कल्पना और प्रातिभ ज्ञान (Intuition) (छायावादी कवि के लिए) सत्य के साक्षात्कार के अनुपम माध्यम और साधन हैं और उनका स्रोत दिव्य तथा अलौकिक है। इस प्रकार छायावाद कल्पनात्मक दृष्टिकोण बन जाता है जिसमें बदलनेवाले रूपों का कल्पना के सहारे स्थायी तथा अपरिवर्तनशील चित्र उपस्थित किया जाता है। इस प्रकार छायावाद बाह्यार्थ का यथार्थ चित्रण न होकर उसकी कल्पनात्मक व्याख्या है। इस सर्वसंपन्न कल्पना और उसकी प्रतीकात्मकता में विश्वास छायावादी कवियों की विशेषता है।

बाह्य और अंतर का यह विरोध अनेक और एक का विरोध है जिसमें एक ओर ऊपरी अनेकरूपता और विविधता है और दूसरी ओर उनके तल में छिपी एकता का संकेत है जिसमें एक ओर परिवर्तन और दूसरी ओर स्थायित्व और जिसमें एक ओर बिना क्रम का इंद्रियपरक अनुभव (Sense impression) और दूसरी ओर संश्लिष्ट कल्पना। छायावादी कवि की प्रवृत्ति अंतस् तथा विविधता के बीच छिपी एकता की ओर है और उसके संश्लेषात्मक चित्रण का आधार है कल्पना।

अंतर्मुखी प्रवृत्ति को महत्त्वपूर्ण मान लेने तथा बाह्य की अपेक्षा उसके भीतर छिपी सत्ता को प्रधान समझने के कारण छायावादी काव्य के बीच प्रतीकवाद का प्रचार हुआ। इसके परिणाम-स्वरूप यह संसार स्वयं किसी दूसरे का प्रतीक बन गया और इसका अपना महत्त्व न रहा। इस प्रतीकात्मकता के

मूल में दो जगत् की स्थिति का स्वीकार है—भौतिक तथा आध्यात्मिक। भौतिक जगत् उस दिव्य, चिरंतन तथा आध्यात्मिक लोक का प्रवेशद्वार है और काव्य का सच्चा उद्देश्य यही है कि भौतिक जगत् के (चित्रण के) सहारे मनुष्य उस रहस्यपूर्ण दिव्य लोक में पहुँच जाय। अतः ऐसे काव्य में शब्द तथा साम्य-योजना प्रतीक मात्र रह जाते हैं जो दूसरे लोक के हैं, और दूसरे लोक का संकेत देते हैं। यह दृश्य जगत् उस अदृश्य सत्ता की छाया है और उसका प्रतीक है। जिस तरह मनुष्य की छाया मनुष्य का आभास मात्र देती है, या प्रतीक उपमेय का प्रतिनिधित्व करता है, स्वयं मनुष्य या प्रस्तुत नहीं है, उसी प्रकार इस दृश्य जगत् के चित्रण में कवि उस रहस्यमय दिव्य तत्त्व को ढूँढ़ता है और अनेकरूपात्मकता के बीच छिपे हुए परम सत्य को पाने की चेष्टा करता है। कवि का भौतिक जगत् का गान पाठक के हृदय के आध्यात्मिक तारों को झंकृत करने के लिए लिखा जाता है।

प्रतीकवाद के इस दृष्टिकोण को मान लेने से बाह्य जगत् अप्रधान हो गया क्योंकि प्रतीक प्रस्तुत की समानता नहीं प्राप्त कर सकता है। इसका परिणाम यह भी हुआ कि छायावादी काव्य के अधिकांश चित्रणों में अस्पष्टता, अस्वाभाविकता और धूमिलता आ गई। वे निश्चयपूर्वक एक का द्योतन न कर कई का संकेत देने लगे और उनके दोहरे, तेहरे या अनेक अर्थ लगाए जाने लगे। प्रकृति-चित्रण और प्रेम-काव्य इसके उदाहरण हैं। छायावादी काव्य के बीच प्रकृति तथा प्रेम दोनों का प्राचुर्य रहा। दोनों का इसलिए स्वागत हुआ कि वे आभ्यंतर जीवन को उद्दीप्त करने में समर्थ हैं। दोनों क्षेत्रों में छायावादी कवियों ने अपने को ढूँढ़ा और अपने को पाया। कवि के अपने व्यक्तित्व के निदर्शन या प्रदर्शन के दोनों साधन और प्रतिकृति बन गए। प्रकृति के बीच कवि ने अपनी ही शोभा का विस्तार देखा और उसका अनुभव किया। अपनी ही इच्छा, आकांक्षाओं तथा आशा, निराशा का चित्र देखा। प्रकृति कवि के वैयक्तिक जीवन की प्रतीक बन गई और इसी लिए उसका स्वागत हुआ। प्रकृति का छायावादी काव्य के बीच पर्याप्त मात्रा में वर्णन हुआ है, फिर भी उसमें प्रकृति की प्रधानता नहीं है। प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता का आभास कम मिलता है। छायावादी कवियों

के द्वारा उसका आलंबन रूप में चित्रण भी अधिक नहीं हुआ। संक्षेप में प्रकृति प्रतीक बन गई—कभी कवि की मनोदशा और अनुभूतियों का और कभी आध्यात्मिक तथा रहस्यपूर्ण तत्त्वों का। इस प्रकार प्रकृति की शोभा और सुषमा आध्यात्मिक बन गई और उसका वर्णन अप्राकृतिक और अस्वाभाविक हो गया। काव्य के बीच प्रकृति अत्यंत सूक्ष्म अवास्तविक और दार्शनिक तत्त्वों का संकेत देनेवाली तथा अत्यंत मानवी बन गई। प्रकृति-चित्रण अधिकांश में संवेदनात्मक शैली में हुआ है जिससे वह कवियों की मनोदशा की व्यंजना और कथा कहने लगी और अपना स्वतंत्र अस्तित्व ही खो बैठी। इस प्रकार 'ऊषा' प्रफुल्लता और 'संध्या' उदासी का प्रतीक बन गई। 'झंझा झकोर गर्जन' मानसिक द्वंद्व का उपमान बना और 'नीरदमाला' भावनाओं की व्यंजक हुई। पंत को वर्षा की अँधेरी रात, पुष्प-दल पर चमकती हुई ओस की बूँद और वसंत की सुषमा में 'मौन निमंत्रण' मिला। बिजली की चमक उनको आध्यात्मिक लोक का सँदेसा भेज रही है। "न जाने तपक तड़ित में कौन, सँदेसा मुझे भेजता मौन।" इसी प्रकार 'प्रसाद' को आँधी के बीच किसी का संकेत मिल जाता है और सागर की ओर जाती हुई नदी साधक की आध्यात्मिक जीवन-यात्रा का प्रतीक बन जाती है। इसी प्रकार के प्रतीकात्मक संकेत अन्य छायावादी कवियों की रचनाओं में भी मिलते हैं। इसी प्रकार प्रेम का प्रतीकात्मक रूप ही छायावाद में अधिक गृहीत हुआ। इससे प्रकृति के समान प्रेम के क्षेत्र में भी अस्पष्टता आ गई और इसकी व्यंजना में वह उत्कर्ष, शालीनता और आत्मीय राग न मिल सका जिसकी अपेक्षा होती है। इसके साथ-साथ 'एक पंथ दो काज' या दीन और दुनिया दोनों सम्हालने के लालच से प्रेम-काव्य भिन्नार्थक फलतः प्रभावहीन हो गया। न तो कवि लौकिक प्रेम का ही ओजपूर्ण वर्णन कर सके और न यही कहा जा सकता है कि उनका ईश्वर या साध्य या उपास्यदेव ही संतुष्ट हो गया। इसके परिणाम-स्वरूप ऐसी बहुत सी रचनाएँ हुईं जिनका प्रकृत विषय लौकिक प्रेम भी हो सकता है और साथ-साथ यह भी कहा जा सकता है कि ये रचनाएँ आध्यात्मिक प्रेम की प्रतीक हैं।

फिर भी छायावादी काव्य के बीच प्रेम की प्रधानता रही। यदि हम

वस्तु-विन्यास की दृष्टि से इसका विचार करें तो हमें छायावाद के दो मुख्य विषय मिलते हैं। प्रथम का आशय यह है कि जीवन को हम प्रेम के सहारे पूर्ण बना सकते हैं और दूसरे का संकेत है कि ईश्वर का आभास, अनुभव या उसकी प्राप्ति प्रेम के द्वारा हो सकती है। दोनों प्रकार की रचनाओं का छाया-वादी युग में बाहुल्य रहा। पंत, 'प्रसाद', 'निराला', महादेवी वर्मा—छायावाद के मुख्य कवियों की रचनाएँ इनसे ओत-प्रोत हैं। इनमें से प्रथम प्रकार की रचना तो अपनी कोमलता और संगीत से लोगों को मुग्ध करती रही और उसे कोई नाम-विशेष देकर परिमित नहीं किया गया, किंतु दूसरे प्रकार की रचना रहस्यवाद के नाम से बहुत प्रचलित हुई। रहस्यवादी रचनाएँ इस युग की प्रधान विशेषता बन गई।

रहस्यवाद को किसी कवि ने आध्यात्मिक क्रिया के रूप में अपनाया। किसी ने फैशन के रूप में, किसी कवि ने अपनी आंतरिक अनुभूतियों का प्रदर्शन किया और किसी ने नाम कमाने का साधन बनाया। अपने स्वभाव के और मनोदृष्टि के अनुसार कवियों ने रहस्यवाद का प्रदर्शन किया। यदि पंत को सौंदर्य ने रहस्योन्मुख बनाया तो 'निराला' को दार्शनिक तत्त्वज्ञान ने और महादेवी वर्मा को प्रेम और वेदना ने। यदि 'प्रसाद' ने उस परम सत्ता को अपने से बाहर खोजा तो 'निराला' ने अपने भीतर ही 'हीरे की खान' पाई। यदि प्रसाद ने यात्रा के रूपकों के द्वारा साधक की आध्यात्मिक प्रगति का संकेत दिया तो 'निराला' जी ने रासायनिकों के प्रतीकों को अपनाया और महादेवी वर्मा ने 'माधुर्य भाव' के द्वारा उसकी व्यंजना की। इस प्रकार यद्यपि रहस्यवाद के क्षेत्र में मनोदृष्टि, प्रतीक तथा व्यंजना की अनेकरूपता तथा विविधता मिलती है, फिर भी इनके मूल में छायावाद के ही तत्त्व हैं। हम देख चुके हैं कि छायावाद की मुख्य विशेषता यह है कि वह बाह्य पदार्थों से वृत्ति को हटाकर उसे अंतर्मुखी बना देती है। रहस्यवाद में भी अधिकांश में अंतर्मुखी प्रवृत्ति मिलती है। जिस प्रकार छायावाद बाह्य वास्तविकता की अपेक्षा आंतरिक अनुभूतियों को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है उसी प्रकार रहस्यवाद का साधक भी बाह्य दृश्यों को महत्त्व न देकर अपने अंतःप्रदेश में विचरण करता रहता है और जिस प्रकार छायावादी कवि अपनी आंतरिक

अनुभूतियों का कल्पना के सहारे संश्लिष्ट चित्रण करता है और उनमें विश्वास करता है उसी प्रकार रहस्यवादी के लिए भी बौद्धिक क्रिया की अपेक्षा कल्पना तथा प्रातिभ ज्ञान ही साक्षात्कार के प्रधान साधन तथा माध्यम हैं। प्रतीकवाद का आश्रय छायावादी कवि भी लेता है और रहस्यवादी साधक भी। इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यवाद और छायावाद में कोई तात्त्विक भेद नहीं है और दोनों के मूल में एक ही प्रकार की भावनाएं हैं। हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि आध्यात्मिक क्षेत्र में पहुंचकर छायावाद को रहस्यवाद की संज्ञा मिल जाती है।

इस अंतर्मुखी प्रवृत्ति का एक और परिणाम हुआ। अपनी आंतरिक अनुभूतियों को (बाह्य दृश्यों की अपेक्षा अधिक) सत्य, महत्त्वपूर्ण तथा वास्तविक मानने के कारण और उनमें अत्यधिक विश्वास रखने के कारण छायावादी कवियों में आत्मप्रत्यय का उदय हुआ। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि आंतरिक अनुभूतियों को विश्वसनीय समझने के कारण, इन अनुभूतियों के केंद्र अर्थात् अपने व्यक्तित्व के प्रति विश्वास हुआ और छायावादी कवि बड़े उत्साह से अपने व्यक्तित्व का प्रदर्शन करने लगे। अहंभावना (Egoism) का उदय हुआ और अपनी निजी, निराली तथा वैयक्तिक अभिरुचि का प्रदर्शन छायावादी काव्य की प्रमुख विशेषता बन गई। यद्यपि छायावादी कवि का अनुभव सामान्य जनमत से दूर तथा भिन्न भी था, फिर भी उसे इसके चित्रण में किसी प्रकार का संकोच न होता था क्योंकि उसे उसकी सत्यता में विश्वास था और उसका प्रदर्शन वह अपना अधिकार समझता था। ऐसा होना स्वाभाविक भी था क्योंकि अहंभावना का अर्थ ही है अपने महत्त्व का प्रत्यभिज्ञान तथा उसकी प्रतिष्ठा। इस प्रकार छायावादी कवियों ने अपनी आंतरिक, वैयक्तिक तथा निराली मानसिक प्रतिक्रिया का वर्णन अपने शब्दों में किया। इन कवियों में पंत सबसे अधिक मुखर थे। उनकी 'पल्लव' की भूमिका इसी तथ्य का संकेत दे रही है। शब्दों के संबंध में जो व्याकरण संबंधी या अन्य स्वच्छंदताएं उन्होंने ली हैं उनका आधार उनकी अपनी रुचि है और उसे वे कवि का अधिकार समझते हैं। पंत के सामने प्रभात का चित्र

पुँल्लिंग में आ ही नहीं पाता, स्त्री रूप में उसका चित्र अधिक निखरता है। इसी से उन्होंने प्रभात के संबंध में स्त्रीलिंग का प्रयोग किया। इसी प्रकार यदि उनकी इच्छा या रुचि ने आवश्यक समझा तो उन्होंने 'ण' के स्थान पर 'न' कर दिया। संकेत में छायावादी कवि अपनी ही सीमा में घिरे रहे। उन्होंने अपनी इच्छा और रुचि का अपने अंतःप्रदेश तथा अपने भाव-जगत् की अपनी वैयक्तिक प्रतिक्रियाओं का अपने शब्दों और उत्तम पुरुष में वर्णन किया। 'निराला' जी की अनामिका की निम्नलिखित पंक्तियाँ केवल उन्हीं के भावोद्रेक की प्रक्रिया का संकेत नहीं दे रही हैं, प्रत्युत छायावादी युग के एक विशेष तथ्य का निर्देश भी कर रही हैं।

मैंने "मैं" शैली अपनाई
देखा दुखी एक निज भाई।
दुख की छाया पड़ी हृदय में मेरे
झट उमड़ वेदना आई . ...।

केवल 'निराला' जी ने ही "मैं" शैली नहीं अपनाई। "मैं" शैली समस्त छायावादी काव्य की विशेषता बन गई। छायावादी युग कवियों की अहंभावना (Egoism) से ओतप्रोत है। इस समय के काव्य में कवियों के आत्मीय राग का प्राधान्य है। उनका हृदय उनका प्रेरक तथा पथप्रदर्शक बना।

इस अहंभावना ने छायावादी कवियों को एक कदम और आगे बढ़ाया। "मैं" शैली ने "मैं" की स्वतंत्रता और स्वच्छंदता की माँग की। कवि स्वच्छंदतावादी बने। उन्होंने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की। वे अपने हृदयोद्गारों की व्यंजना के लिए अपने को पूर्ण रीति से स्वतंत्र मानने लगे, चाहे उनकी भावना प्रचलित और प्रतिष्ठित जनरुचि के अनुकूल हो या प्रतिकूल। अपने हृदय और अपनी भावना तथा रुचि की सीमा को छोड़कर वे और किसी प्रकार का बंधन मानने को तैयार न थे। इस प्रकार छायावाद के बीच स्वच्छंदतावाद का भी बोलबाला रहा।

इस स्वच्छंदता-प्रेम के मूल में कवियों का विश्वास है कि स्वतंत्र होने पर प्रत्येक मनुष्य अपने अंदर छिपी हुई नैसर्गिक शक्ति के साधना द्वारा पूर्णता

प्राप्त कर सकता है और इसके लिए प्रत्येक को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। मनुष्य सदा से अपने वर्तमान जीवन तथा स्थिति की अपेक्षा उत्कृष्ट तथा श्रेयस्कर जीवन की कल्पना करता आया है। यदि वह परंपरा और रूढ़ि के नियम-बंधनों से स्वतंत्र कर दिया जाय तो वह वही हो सकता है जिसकी कि वह कल्पना करता है। आंतरिक जीवन पर छायावाद का अधिक आग्रह होने से इस बात का भी संकेत मिलता है कि स्वतन्त्र स्थिति में मनुष्य का वही रूप होगा जिसकी वह कल्पना करेगा और उसमें शक्ति होगी। इसलिए छायावादी कवियों ने स्वच्छंदतावाद का स्वागत किया, उसकी प्रतिष्ठा की और उसकी रक्षा के लिए लड़े भी। छायावादी कवि ने अपने अंतर्जगत् तथा भावलोक की अभिव्यक्ति के लिए अपने को पूर्ण रीति से स्वतंत्र तथा स्वच्छंद माना। उसे किसी क्षेत्र में किसी प्रकार का बंधन मान्य नहीं था। इस प्रकार छायावाद वैयक्तिक रुचि-स्वातंत्र्य का युग बना।

यह स्वच्छंदता छायावादी काव्य की भावना तथा प्रक्रिया दोनों में मिलती है और इससे काव्य तथा साहित्य दोनों की श्री-वृद्धि हुई। कवियों की अनुभूति सजग हो उठी और उनकी कल्पना उन्मुक्त क्षेत्र में स्वच्छंद होकर विचरण करने लगी। यदि कोई सीमा थी तो केवल अपनी शक्ति और अपनी रुचि की। कवि की प्रतिभा के लिए प्रत्येक क्षेत्र और दिशा का मुक्त मार्ग था। छायावादी कवियों ने इस अवसर का समुचित उपयोग किया। किसी ने सौंदर्य की खोज शुरू की और कहा कि 'अकेली सुंदरता कल्याणी, सकल ऐश्वर्यों की संधान'। किसी ने छिपे हुए प्रिय से आँखमिचौनी शुरू की, लेकिन उसकी 'कोमल किरण अँगुलियाँ' उसका अस्तित्व या आभास दे देती हैं। किसी ने अपने अंतर्प्रदेश की सारी व्यथा को शब्दों द्वारा मुखरित कर दिया। इसके साथ-साथ वही कवि अपने इच्छानुसार कभी सौंदर्यवादी बन गया, कभी रहस्यवादी साधक बना और कभी अपने भावजगत् में तन्मय हो गया। कवि की जिज्ञासा, सौंदर्य तथा रहस्यभावना की तृप्ति के लिए कवि की कल्पना कभी सुदूर अतीत की ओर गई और कभी अपने पास बिखरी हुई वस्तुओं से संतुष्ट हो गई। लहराता हुआ सरोवर, बालक्रीड़ा, तारोंवाली रात, किसान-कन्या ने कवि की भावना को उद्दीप्त कर दिया और

उसे विभोर बना दिया। कल्पना को वर्तमान के बंधन से मुक्त करने के लिए देश के अतीत इतिहास का कवियों ने भावात्मक चित्रण किया और कभी उनकी कल्पना साधारण तथा सामान्य जीवन के दृश्यों से संतुष्ट हो गई। इस प्रकार छायावाद के बीच कोई वस्तु काव्य का प्रस्तुत विषय बनने के अनुपयुक्त न थी। कवि किसी भी वस्तु को अपनी प्रतिभा से मंडित करने के लिए स्वतंत्र था।

भावना के समान प्रक्रिया के क्षेत्र में भी स्वच्छंदतावाद के दर्शन होते हैं। भाव-क्षेत्र के समान यहाँ भी कवियों ने अपने को परंपरा और रूढ़ियों से मुक्त रक्खा। छायावाद का युग मुक्तक गीतों का युग बना। प्रगीत मुक्तकों की गीतात्मक शैली मानो इन कवियों की अपनी मुक्ति की संगीतमय घोषणा थी। भाषा-शैली, छंद, प्रतीक तथा साम्य-योजना में कवियों की अपनी रुचि, मौलिकता तथा स्वच्छंदता लक्षित होती है। गीतात्मक शैली के बीच पद-विन्यास में कवियों की स्वतंत्रता लक्षित होती है। कुछ कवियों ने संस्कृत-प्रधान तत्सम पदावली को अपनाया और कुछ कवियों ने हिंदी की नैसर्गिक मिठास को व्यक्त करने की चेष्टा की। द्विवेदी-युग के छंदों का प्रयोग कम होता गया और कवियों ने नये छंदों की नये लय पर उद्भावना की। स्वच्छंद छंदों के सफल प्रयोग में छायावादी कवियों की मौलिकता के लोगों को दर्शन हुए। इस क्षेत्र में 'निराला' जी को आशातीत सफलता मिली। 'प्रसाद' जी ने भी स्वच्छंद छंदों का प्रयोग किया।

छायावादी काव्य की मौलिकता के सबसे अधिक दर्शन नवीन उपलक्षण, प्रतीक तथा साम्य-योजना में हुए। छायावादी कवि परंपरा-प्राप्त उपमानों से संतुष्ट न होकर नवीन उद्भावना में प्रवृत्त हुए। उनके सूक्ष्म पर्यवेक्षण, अनुभूति की उत्कटता तथा हृदय की सरसता ने मिलकर नवीन, सुंदर तथा प्रभावपूर्ण प्रतीकों का सर्जन किया। नवीनता के उत्साह में कभी-कभी ऐसे उपमान भी प्रयुक्त हुए, जिनसे पाठक के हृदय में भावना स्पष्ट न हुई (या प्रतिकूल भाव का जन्म हुआ), फिर भी अधिकांश उपलक्षण रुचिर तथा आकर्षक थे। लाक्षणिक प्रयोगों की भी इस समय अधिकता रही। कवियों को नवीन मौलिक रूपविधानों से प्रेम है। इस प्रकार छाया-

वादी युग में कवियों में नवीनता तथा मौलिकता की चेष्टा और स्वयं की रोक-टोक तथा रूढ़ि से विद्रोह और स्वच्छंदता लक्षित होती है।

छायावादी कवि के आत्म-प्रत्यय ने उसके व्यक्तित्व को उसकी दृष्टि में अत्यंत महत्त्वपूर्ण बना दिया। अपने महत्त्व के ज्ञान, रुचि-स्वातंत्र्य तथा आत्माभिव्यक्ति के अधिकार की भावना ने उसकी मनोदृष्टि में परिवर्तन उपस्थित किया। अपने व्यक्तित्व को अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानने के कारण छायावादी कवि अपने को सामान्य जनता से पृथक् तथा ऊपर समझने लगा। आत्माभिव्यक्ति तथा रुचि-स्वातंत्र्य के अधिकार के कारण वह अपने उद्गारों पर किसी प्रकार का सामाजिक या नैतिक अंकुश रखने को तैयार न था।

उसका काव्य-मंदिर ऐसा बन गया जिसमें सबका प्रवेश न था और उसमें वह स्वयं ही पुजारी बना। पूजाविधि तथा पूजा के उपादानों के चयन में वह पूर्ण स्वतंत्र था। अपने व्यक्तित्व की पृथक्ता दिखाने के लिए वह नवीनता तथा मौलिकता के नाम पर असामान्य की ओर कभी-कभी बहुत दूर बढ़ गया। भाषा, भावना तथा भावाभिव्यंजन का असामान्य रूप कभी-कभी इसी कारण दिखाई पड़ता है।

इसी मनोदृष्टि ने 'कला कला के लिए' या 'काव्य काव्य के लिए' सिद्धांत के आग्रह को जन्म दिया। इसका अर्थ यह हुआ कि कवि के लिए भाव तथा भावाभिव्यक्ति के क्षेत्र में काव्य के उपादानों को छोड़कर अन्य बंधन मान्य नहीं हैं। जीवन, समाज तथा नैतिकता से उसका विच्छेद हो गया। कवि और सामान्य जन-जीवन के बीच गहरी खाई हो गई। कवि किसी 'दूसरे लोक का प्राणी' बना और उसका काव्य कृत्रिमता तथा अवास्तविकता से भर गया। कवि ने अपनी काव्य-रचना में पाठकों की रुचि या भावना का ध्यान रखना आवश्यक न समझा। उसका ध्येय केवल आत्म-प्रकाशन ही रहा, उसका उत्तरदायित्व नहीं। रुचि-स्वातंत्र्य तथा आत्माभिव्यक्ति के अधिकार का ऐसा परिणाम स्वाभाविक ही था।

इस सिद्धांत का एक दूसरा पक्ष भी है। इस सिद्धांत ने कवि की स्वतंत्रता उद्घोषित की और उसे झूठी नैतिकता या तत्कालीन प्रचलित सामाजिक रीति-नियमों का गुलाम बनने को विवश न किया। इस सिद्धांत ने उसे वस्तु-

चयन तथा विचारों की स्वच्छंदता दी। इस स्वतंत्रता की उपलब्धि से वह अपने व्यक्तित्व की रक्षा कर सकता था और अपने विचारों के प्रति सच्चा रह सकता था। कवि की रचना एक प्रकार से उसके व्यक्तित्व तथा विचारों का प्रतिबिंब है। इसलिए जहाँ उसमें काव्यगत उपादानों की आवश्यकता है वहाँ अनुभूति की सत्यता भी अपेक्षित है। इस सिद्धांत ने कवि को अपने विचारों की स्वच्छंद अभिव्यक्ति का अवसर देकर काव्य को मिथ्यावाद से बचा लिया।

इस प्रकार 'कला कला के लिए' या 'काव्य काव्य के लिए' सिद्धांत में पलायन तथा प्रगति दोनों छिपे हैं। एक ओर यदि जन-जीवन से उदासीनता और कृत्रिमता है तो दूसरी ओर विद्रोह और सत्य की संजीवनी है। छाया-वादी युग में इस सिद्धांत का विशेष प्रचार हुआ। इसी लिए छायावादी काव्य के बीच उसके दोनों रूप दिखाई पड़ते हैं। पलायन और प्रगति के कारण भी स्पष्ट हैं। आंतरिक अनुभूतियों की निर्भरता बाह्य वास्तविकता से विमुख भी बना सकती है और बाह्य वास्तविकता के सुधार की इच्छा भी जगा सकती है। इस वास्तविक जगत् के बीच जीवन के उत्कर्ष की संभावना और भौतिक जीवन की पूर्णता का स्वप्न भी कवि देखा करते हैं और जीवन को अंतर्मुखी बनाकर भौतिक जगत् से परे रहस्यात्मक अनुभूतियों की साधना तथा पूर्णता की इच्छा भी उनके हृदय में रहती है। छायावाद के बीच ये सब प्रवृत्तियाँ न्यूनाधिक रूप में वर्तमान हैं। इसी से छायावादी काव्य के बीच पलायन और प्रगति दोनों के विविध रूप देखने को मिलते हैं। काव्य के बीच जो नई संगीतात्मकता मिलती है, छंदों के जो नए प्रयोग हुए हैं, अभिव्यंजन को जो नवीन शैली के दर्शन होते हैं और भावों की जो मधुर छटा देखने को मिलती है और व्यक्तित्व का जो आकर्षण है उसके मूल में छायावाद की प्रवृत्तियाँ हैं। 'पंत', 'प्रसाद', 'निराला', महादेवी वर्मा ऐसे स्वस्थ तथा समर्थ कवियों के हाथ में पड़कर छाया-वाद ने हिंदी-काव्य का जो नवीन पृष्ठ सामने रखा वह अपनी सौंदर्य-सुषमा में किसी से कम नहीं है। इन कवियों के द्वारा काव्य-क्षेत्र में जो नवीन प्रयोग हुए और परंपरा तथा रूढ़ियों की अवहेलना हुई, उन्होंने एक ओर द्विवेदी-युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया का रूप धारण किया और दूसरी ओर विद्रोह तथा प्रगति की नवीन राह दिखाई। आगे चलकर 'पंत' और 'निराला' ऐसे कवि

[illegible]वाद के उन्नायक बने। कामायनी निश्चय ही एक प्रकार से जीवन के [illegible] को प्रतिच्छाया बना। यद्यपि उतना व्यापक न था, किंतु यहीं छायावाद दुर्बल, अधकचरे अवसरवादियों के हाथ में पड़कर [illegible]हीन तथा पलायन-वादी बन गया। छायावाद को सौंदर्य-बोध विलास-क्रीड़ा बन गई और रहस्यवाद की शांत तथा शालीन भावना पहेली। ये कवि छायावाद से केवल प्रतीक और शब्द-सामग्री ही ले सके। उनकी आत्मा लुप्त हो गई। अधिकांश कवियों ने अपनी रचनाओं में 'असीम', 'अनंत', 'नीरव', '[illegible]', 'शून्य क्षितिज', 'उस पार', 'कनक रश्मि' तथा 'उच्छ्वास' आदि शब्दों को रखने में ही कवि-कर्म की कुशलता मान ली। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ 'पंत', 'निराला' ऐसे कवियों द्वारा छायावाद का स्वागत हुआ वहाँ इन कवियों के कारण मिथ्यावाद तथा कृत्रिमता का प्रचार हुआ और छायावाद के विरुद्ध परिवर्तन आरंभ हुआ।

छायावाद के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया आरंभ हुई उसके मूल में विविध प्रकार के कारण हैं। कुछ कारण तो बाह्य वस्तु-स्थिति से संबद्ध हैं और कुछ के बीज छायावाद में ही छिपे थे। छायावाद ने स्वच्छंद मौलिकता और नवीनता के नाम पर जो असामान्य की खोज की उसने उसे सामान्य जनता से बहुत दूर कर दिया। छायावाद की भाषा-शैली बहुत से हिंदी पढ़े-लिखे लोगों को पहेली प्रतीत हुई और वे उसकी भाषा की दुरूहता के कारण उसका रसास्वादन न कर सके। भाषा-शैली के समान, उसकी प्रतीक-योजना और भाव-विधान भी पाठकों को अत्यंत दुरूह तथा क्लिष्ट प्रतीत हुए।

छायावादी कविता की ताजगी, रंगीनी और कल्पना का अतिरेक संतुलित चित्रण के अभाव की पूर्ति न कर सका। कवियों की नवीनता और मौलिकता भी बहुत दूर न जा सकी क्योंकि छायावादी कवि प्रधानतया अपनी ही भावना और अनुभूति में तन्मय रहे और इनमें से अधिकांश भावनाएँ और अनुभूतियाँ न तो बहुत गहरी थीं और न सत्य से समन्वित। छायावाद के संबंध में यह भी कहा जा चुका है कि यह कल्पनात्मक दृष्टिकोण है, अर्थात् कवि वास्तविक वस्तुस्थिति का चित्रण न कर उसपर अपने भावों और कल्पना का आरोप करता है। छायावादी कवि इस प्रकार वस्तुस्थिति का

सम्यक् रूप न दिखाकर उसे कल्पना के द्वारा शोभा-मंडित या सुषमा का आवरण देकर उसका उन्नयन करता है। लोकरुचि इससे संतुष्ट न हो सकी। इसलिए इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का आरंभ हुआ और ऐसे काव्य तथा रचनाओं की माँग हुई जिनमें वास्तविक स्थिति का पूर्ण पर्यवेक्षण मिले और जिसका आधार काल्पनिक अनुभव न होकर वास्तविकता हो।

युगधर्म के परिवर्तित वातावरण तथा नवीन आकांक्षाओं और इच्छाओं से प्रभावित और निर्मित लोकरुचि छायावाद के 'छायातन और छायालोक' से संतुष्ट न हो सकी। छायावादी की सौंदर्य-खोज उसे अर्थहीन प्रतीत हुई। उसके प्रेमगीत समय के अनुपयुक्त और 'शून्य क्षितिज के उस पार' जाने की भावना कर्तव्य की अवहेलना जान पड़ी। अधिकांश छायावादी कविता वास्तविकता से मुँह चुराकर दूर भागती हुई जान पड़ी। उसका संगीत और उसकी मधुर भावना और उसके रोचक प्रतीक पलायनवादी ही प्रतीत हुए। समय की गति इतनी तेज थी कि उसकी भाषा, उसका राग और उसका व्यक्तिवाद केवल राष्ट्रजीवन से केवल बहुत पिछड़ा हुआ ही न लगा, प्रत्युत निस्सार, व्यर्थ और अवसर-विरुद्ध प्रतीत हुआ। इस प्रकार युग की बाह्य परिस्थिति भी छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया का प्रमुख कारण बन गई।

छायावाद ने सौंदर्य की खोज तो की, लेकिन जीवन की समालोचना न की। सौंदर्य और प्रेम को जीवन का आदर्श और ध्येय तो बताया, किंतु उन विषम परिस्थितियों की ओर देखा भी नहीं जिनके कारण न सौंदर्य ही बना रह सकता था, न प्रेम ही पनप सकता था। छायावादी काव्य ने उन सामाजिक और राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय गतिविधि की ओर ध्यान न दिया जिनसे जीवन ही कुचला जा रहा था। जब कि स्वतंत्र जीवन ही असंभव हो रहा था तब सौंदर्य-सुषमा और प्रेम की खोज कौन करता और वे कहाँ मिलते। छायावादी काव्य सौंदर्य की सीमा में ही घिरा रहा। उसने न उन सामाजिक तथा सांस्कृतिक रूढ़ियों की ओर संकेत किया और न शोषक और शोषित के बीच जगद्व्यापी संघर्ष का दिग्दर्शन कराया। वे कवि इन यथार्थताओं से दूर ही भागते रहे। वर्ग-संघर्ष से वे अलग ही रहे। इस प्रकार जनता और कवि की इच्छा और आशाओं के बीच बड़ा भारी अंतर उपस्थित हो गया।

कवि का आदर्श (इस जगत् से दूर) सौंदर्य-लोक का निर्माण हुआ और जनता इसी लोक के बीच स्वतंत्र जीवन की प्रतिष्ठा की आशा कवि से करने लगी। इस प्रकार कवि सामान्य जनता और यथार्थता तथा वास्तविकता से दूर होता गया और वह कृत्रिम भावलोक में तन्मय हो गया। फलतः काव्य भी जनसाधारण से दूर हो गया और कृत्रिम बन गया और समाज के विशिष्ट अंग के क्रीड़ा-कलाप का साधन मात्र रह गया। छायावादी काव्य हिंदी-शिक्षा-केंद्र तथा साहित्य के सिद्धों तथा साधकों के बीच परिमित रह गया। ऐसी परिस्थिति में कृत्रिमता अनिवार्य थी।

छायावादी काव्य की कृत्रिमता तथा पृथकत्व का एक कारण कवियों में भी मिलता है। कवियों का समुदाय जिस (मध्यम) वर्ग से आता है उसकी जड़ें सामान्य जीवन के बीच नहीं जमी हैं। यह शिक्षित-दीक्षित और शिष्ट वर्ग देश की जीवन-सरिता के ऊपर ही उतराता हुआ इधर से उधर बह रहा है। इसकी शिक्षा, संस्कृति और मनोभावना ने इसको जनसाधारण के जीवन, परिस्थिति, आवश्यकता तथा भावना से दूर कर दिया है। अतः देश के सामान्य सामाजिक वातावरण से दूर रहने के कारण और सामाजिक साधन तथा साध्य—जो जनसाधारण के जीवन की सबसे बड़ी यथार्थता है—से उदासीन रहने के कारण इसके जीवन तथा इसकी रचनाओं में कृत्रिमता का प्राधान्य है।

यहाँ पर एक बात और कह देनी चाहिए। यद्यपि छायावादी कविता सामान्य जन-जीवन से उदासीन रही, फिर भी वह युग के प्रभाव से बच न सकी। देश के बीच विचारों की जो अनेक धाराएँ चल रही थीं और उनसे जो विचार-संघर्ष उठ रहा था उसका जन-जीवन और काव्य दोनों पर प्रभाव पड़ा। राष्ट्रजीवन में जो विषमता और नवीन उत्साह का दर्शन हो रहा था उसकी प्रतिच्छाया छायावादी काव्य में वर्तमान है। इस प्रकार सामयिक गतिविधि से उदासीन रहते हुए भी वह समय के प्रभाव से अछूता न रह सका। युग-धर्म या समय की छाप छायावादी काव्य पर पड़ी हुई है।

छायावाद का युग राष्ट्रीय जागरण का युग भी है। इसी समय से देश के राष्ट्रीय जीवन ने क्रियात्मक रूप धारण किया। इसी समय नवचेतना, उत्साह और कार्यशीलता के दर्शन होते हैं। साथ ही राष्ट्रीय भावना को कुचलने के

लिए अधिकारियों द्वारा जो दमनचक्र चलाया गया उसके फल-स्वरूप जीवन में क्षोभ और निराशा का भी व्यापक संचार हुआ। इसी समय मध्यम वर्ग ने राजनीतिक आंदोलनों में योग देना शुरू किया और सामान्य जनता के निकट आने का प्रयास किया और साथ ही उसे इस तथ्य का अनुभव हुआ कि उसके और सामान्य जनता के बीच बहुत बड़ी खाई है। राष्ट्रजीवन की विवशता और उसके उत्साहपूर्ण बलिदान की झलक काव्य के बीच मिलती है।

जिस प्रकार राष्ट्रीय जीवन स्वतंत्रता की भावना से ओत-प्रोत था और वह जीवन के किसी भी क्षेत्र में—सामाजिक, नैतिक, आर्थिक—उसको संकुचित और बंदी बनानेवाली रूढ़ियों को मानने को तैयार नहीं था; उसी प्रकार छायावादी कवि भी स्वच्छंदता के लिए लालायित था और वह भी किसी परंपरा से अपने को परिसीमित करने को तैयार नहीं था। जिस प्रकार राष्ट्र-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विविध प्रकार के नये प्रयोग हो रहे थे उसी प्रकार छायावादी कवि भी काव्य के विविध क्षेत्रों में नवीन तथा मौलिक प्रयोगों में संलग्न थे और परंपरावादियों की आलोचना पर ध्यान नहीं देते थे। दमन-चक्र और दरिद्रता के परिणाम-स्वरूप जो निराशा जगी उसकी अभिव्यक्ति प्रायः सभी छायावादी कवियों की रचना में मिलती है। निराशावाद तो छायावाद का अंग बन गया। 'पंत' और 'प्रसाद' ऐसे कवि भी—जो अपनी संतुलित मनोदृष्टि के लिए प्रसिद्ध थे—इससे न बच सके। उनके काव्य के बीच निराशा की सूक्ष्म धारा मिलती है। इसी प्रकार छायावाद के गीतात्मक उद्रेक के मूल में भी वर्तमान हलचल और अशांति है। वर्तमान युग की जिज्ञासा और विषम परिस्थिति गीतों के रूप में फूट पड़ी।

इस प्रकार यद्यपि छायावाद के साहित्यिक पुनरुत्थान का संबंध राष्ट्रीय जनजागरण से जोड़ा जाता है और तत्कालीन परिस्थिति की प्रतिध्वनि और उसका आभास छायावाद के बीच मिल जाता है, फिर भी यह कहना पड़ेगा कि काव्य युग की गहराई तक न पहुँच सका और न उसमें उतनी व्यापकता ही आ सकी। समय की गति अत्यंत तीव्र थी और नवीन शक्तियाँ दूसरी दिशा की ओर इतने वेग से चल रही थीं और बाह्य परिस्थिति में आमूल परि-वर्तन का ऐसा व्यापक आभास दे रही थीं कि छायावाद का व्यक्तिवाद और

उनकी अंतर्मुखी प्रवृत्ति न तो उनके साथ चल सकते थे और न उनको अपने में पूर्ण समावेश कर सकते थे। नवीन परिस्थिति ने नवीन भावनाओं और आकांक्षाओं को जन्म दिया। फलतः काव्य-क्षेत्र में नवीन भावनाओं से प्रवीण कवियों ने एक नये युग का आरंभ किया जिसके उद्देश्य तथा आदर्श छायावादी काव्य से सर्वथा भिन्न थे। समय की प्रगति का ध्यान रखने के कारण इनके काव्य को प्रगतिशील की संज्ञा मिली।

फिर भी छायावाद अकारण और अनायास न था। छायावाद की मूल प्रवृत्तियों के कारण भी सामाजिक और सांस्कृतिक ढाँचे में मिल जाते हैं। छाया वाद के व्यक्तिवाद, आत्माभिव्यक्ति, कलावाद आदि बुर्जुआई (Bourgeois) संस्कृति के ही विविध रूप हैं। हमारे समाज की व्यवस्था ही प्रतिद्वंद्विता के आधार पर है जिसमें एक व्यक्ति को जीने के लिए दूसरे व्यक्ति से लड़ना पड़ता है और उसमें स्वायत्त की लालसा प्रबल हो उठती है। जब आज के समाज के मूल्यांकन का मानदंड अधिकार-सम्मत मूल्य (Property value) के आधार पर है तो जनहित की अपेक्षा व्यक्तिगत सफलता की भावना प्रमुख हो गई। पूँजीवादी मितव्ययता (Capitalist economy) द्वारा जिसका आधार ही व्यक्तिगत एकाधिकार है—संघटित समाज में व्यक्ति का प्राधान्य अनिवार्य था, अतः ऐसे समाज के बीच रहनेवाले कवि को भी यदि जीवन-युद्ध में सफल होने के लिए अपनी प्रतिभा का विज्ञापन करना पड़े और उससे व्यक्तिगत लाभ उठाने को बाध्य होना पड़े तो क्या आश्चर्य! इसलिए यदि व्यक्तिवादी समाज के बीच—जहाँ संपूर्ण समाज की उन्नति दुराशामात्र है और जहाँ व्यक्तिगत सफलता और संपन्नता संभव है—कवि ने भी यदि व्यक्तिवाद का राग अलापा और अन्य एकाधिकारों (Monopolies) की प्रतिष्ठा के समान उसने काव्य को सबसे पृथक् अपना एकाधिकार माना और अपने को शुद्ध काव्य या कला तक सीमित रक्खा तो कोई असंभावित बात न हुई। इसी प्रकार जब पूँजीवाद ने प्रतिद्वंद्विता के क्षेत्र में व्यक्ति की उन्नति के लिए स्वतंत्रता के नाम पर व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा और प्रतिष्ठा की माँग पेश की तो कवि ने भी आत्माभिव्यक्ति के अधिकार की दुहाई दी। इस

प्रकार छायावाद भी सामाजिक तथा सांस्कृतिक वस्तुस्थिति की प्रतिच्छाया ही ठहरता है। उसका जन्म तथा विकास सहेतुक है।

एक बात और, राष्ट्रीय जनजागरण की कर्मशीलता के युग में छायावाद की रहस्यभावना और अंतर्मुखी प्रवृत्ति (या उसकी अकर्मण्यता) लोगों को कुछ विलक्षण प्रतीत होती है, किंतु बात ऐसी नहीं है। संघर्ष के प्रत्येक युग के पहले और उसके आरंभिक वर्षों में अधिकांश देशों के साहित्य में इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। फ्रांस की राज्यक्रांति से प्रभावित जिस 'रोमांटिसिज्म' का योरप और इंगलैंड में प्रसार हुआ उसमें स्वच्छंदता और रहस्यवाद दोनों की भावनाएँ मिलती हैं। कवि स्वतंत्रता का आवाहन भी करते थे और रहस्योन्मुख भी थे। ब्लेक ने स्वतंत्रता का स्वागत भी किया और रहस्यवादी रचनाएँ भी लिखीं। इसी प्रकार वर्डस्वर्थ, शेली आदि कवियों ने स्वतंत्रता के गीत लिखे और आध्यात्मिकता की ओर संकेत किया। फिर भी अधिकांश कवियों की स्वातंत्र्य-भावना मानसिक भूमि से नीचे कर्म-क्षेत्र में नहीं अवतरित हुई। कुछ कवि काव्य-क्षेत्र में तो स्वतंत्रतावादी थे और व्यवहार-क्षेत्र में अपरिवर्तनवादी। इसी प्रकार जब आयर्लैंड अपनी स्वतंत्रता के जीवन-मरण युद्ध में व्यस्त था और उसके युवक गोलियों के शिकार हो रहे थे, आयरिश साहित्य का पुनरुत्थान हुआ जिसने उसके काव्य और नाट्य-साहित्य में नवजीवन संचार कर उसे विश्व-साहित्य की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया। आयरिश पुनरुत्थान ने विश्वप्रख्यात यीट्स को प्रकट किया और नाट्य-साहित्य और रंगमंच की नवीन परंपरा चलाकर देश का स्वरूप ही बदल दिया। इस आयरिश साहित्य में भी रहस्यात्मकता, प्रतीक-वाद और आध्यात्मिकता का प्राधान्य था। इसी प्रकार रूस की क्रांति के पहले और उसके बीच भी रूसी काव्य-क्षेत्र में रोमांटिसिज्म और प्रतीकवाद का प्रचार था। रूस के सबसे बड़े कवि और क्रांति का मुक्त हृदय से स्वागत करनेवाले अलेकजेंडर ब्लाक की आरंभिक रचनाएँ रोमांटिसिज्म और प्रतीक-वाद से रँगी हैं। क्रांति का चित्रण करनेवाली रूसी साहित्य की अमर रचना —'बारह' में उसने क्रांति-पथ पर ईसा को क्रांतिकारियों के आगे चलाया है। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि ब्लाक रोमांटिसिज्म पर नहीं

ठहरा, वह और आगे बढ़ा। इसी प्रकार हमारे देश की राष्ट्रीय क्रांति के बीच छायावाद में एक ओर तो स्वच्छंदतावाद की प्रवृत्ति लक्षित होती है और दूसरी ओर रहस्यात्मकता और अंतर्दर्शन की प्रवृत्ति है। ब्लाक के समान यहाँ भी कुछ कवि छायावाद तक अपने को सीमित न रखकर क्रांति के पथ पर आगे बढ़े और क्रांतिवादी साहित्य का सर्जन किया। ऐसे कवियों में 'पंत' और 'निराला' का नाम प्रमुख है, आयरिश पुनरुत्थान के समान और उनका समसामयिक छायावाद भी राष्ट्रीय जागरण के आरंभिक वर्षों की घटना है। इस प्रकार कई देशों के संघर्ष-काल के साहित्यिक पुनरुत्थान में समान प्रवृत्तियों को देखने से समझ में आ जाता है कि हिंदी-साहित्य के बीच छायावाद अलग और अनोखी घटना नहीं है। संघर्षकाल के बीच काव्य में स्वच्छंदतावाद और रहस्यवाद दोनों प्रकार की भावनाओं को देखकर यही कहा जा सकता है कि कवियों ने उसका स्वागत-गान लिखा, स्वतंत्रता को सिद्धांत-रूप से तो स्वीकार कर लिया, किंतु उसकी व्यावहारिक भयानकता से या तो वे पलायनवादी बन गए या लौकिक क्षेत्र में स्वतंत्रता के अतिरिक्त और दूसरी वस्तुओं को अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर आध्यात्मिकता में तन्मय होकर आत्मदर्शन में निमग्न हो गए।

किन्तु समय की गति अत्यंत वेगपूर्ण थी और देश को नवीन दिशा की ओर प्रेरित करनेवाली शक्तियों को इन कवियों के समाधि-भंग तक ठहरने का अवकाश न था। द्वितीय महायुद्ध की निर्ममता ने इनकी निद्रा भंग कर दी। समाज नवीन प्रणाली पर विचार करने को विवश हुआ। युद्ध के परिणाम-स्वरूप देश में अत्यंत व्यापक परिवर्तन उपस्थित हुए और घटनाएँ बड़े वेग से चलने लगीं। युद्ध के प्रभाव से सबसे पहले आर्थिक व्यवस्था में उथल-पुथल लक्षित हुआ। जीवन-यापन की समस्या दिन-प्रतिदिन कठिन होती गई। इसके साथ पूँजीपतियों को दिन दूना रात चौगुना लाभ होता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो दरिद्रता की वृद्धि हुई और दूसरी ओर कतिपय व्यक्तियों के हाथ में धन संचित होता गया। इससे वर्ग-भावना ने जोर पकड़ा और शोषक तथा शोषित का भाव अत्यंत उग्रता से सामने

प्रकार छायावाद भी सामाजिक तथा सांस्कृतिक वस्तुस्थिति की प्रतिच्छाया ही ठहरता है। उसका जन्म तथा विकास सहेतुक है।

एक बात और, राष्ट्रीय जनजागरण की कर्मशीलता के युग में छायावाद की रहस्यभावना और अंतर्मुखी प्रवृत्ति (या उसकी अकर्मण्यता) लोगों को कुछ विलक्षण प्रतीत होती है, किंतु बात ऐसी नहीं है। संघर्ष के प्रत्येक युग के पहले और उसके आरंभिक वर्षों मे अधिकांश देशों के साहित्य में इसी प्रकार की प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। फ्रांस की राज्यक्रांति से प्रभावित जिस 'रोमांटिसिज्म' का योरप और इंगलैंड में प्रसार हुआ उसमें स्वच्छंदता और रहस्यवाद दोनों की भावनाएँ मिलती हैं। कवि स्वतंत्रता का आवाहन भी करते थे और रहस्योन्मुख भी थे। ब्लेक ने स्वतंत्रता का स्वागत भी किया और रहस्यवादी रचनाएँ भी लिखीं। इसी प्रकार वर्डस्वर्थ, शेली आदि कवियों ने स्वतंत्रता के गीत लिखे और आध्यात्मिकता की ओर संकेत किया। फिर भी अधिकांश कवियों की स्वातंत्र्य-भावना मानसिक भूमि से नीचे कर्म-क्षेत्र में नहीं अवतरित हुई। कुछ कवि काव्य-क्षेत्र में तो स्वतंत्रतावादी थे और व्यवहार-क्षेत्र में अपरिवर्तनवादी। इसी प्रकार जब आयर्लैंड अपनी स्वतंत्रता के जीवन-मरण युद्ध में व्यस्त था और उसके युवक गोलियों के शिकार हो रहे थे, आयरिश साहित्य का पुनरुत्थान हुआ जिसने उसके काव्य और नाट्य-साहित्य में नवजीवन संचार कर उसे विश्व-साहित्य की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया। आयरिश पुनरुत्थान ने विश्वप्रख्यात यीट्स को प्रकट किया और नाट्य-साहित्य और रंगमंच की नवीन परंपरा चलाकर देश का स्वरूप ही बदल दिया। इस आयरिश साहित्य में भी रहस्यात्मकता, प्रतीक-वाद और आध्यात्मिकता का प्राधान्य था। इसी प्रकार रूस की क्रांति के पहले और उसके बीच भी रूसी काव्य-क्षेत्र में रोमांटिसिज्म और प्रतीकवाद का प्रचार था। रूस के सबसे बड़े कवि और क्रांति का मुक्त हृदय से स्वागत करनेवाले अलेकजेंडर ब्लाक की आरंभिक रचनाएँ रोमांटिसिज्म और प्रतीक-वाद से रँगी हैं। क्रांति का चित्रण करनेवाली रूसी साहित्य की अमर रचना —'बारह' में उसने क्रांति-पथ पर ईसा को क्रांतिकारियों के आगे चलाया है। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि ब्लाक रोमांटिसिज्म पर नहीं

ठहरा, वह और आगे बढ़ा। इसी प्रकार हमारे देश की राष्ट्रीय क्रांति के बीच छायावाद में एक ओर तो स्वच्छंदतावाद की प्रवृत्ति लक्षित होती है और दूसरी ओर रहस्यात्मकता और अंतर्दर्शन की प्रवृत्ति है। ब्लाक के समान यहाँ भी कुछ कवि छायावाद तक अपने को सीमित न रखकर क्रांति के पथ पर आगे बढ़े और क्रांतिवादी साहित्य का सर्जन किया। ऐसे कवियों में 'पंत' और 'निराला' का नाम प्रमुख है, आयरिश पुनरुत्थान के समान और उनका समसामयिक छायावाद भी राष्ट्रीय जागरण के आरंभिक वर्षों की घटना है। इस प्रकार कई देशों के संघर्ष-काल के साहित्यिक पुनरुत्थान में समान प्रवृत्तियों को देखने से समझ में आ जाता है कि हिंदी-साहित्य के बीच छायावाद अलग और अनोखी घटना नहीं है। संघर्षकाल के बीच काव्य में स्वच्छंदतावाद और रहस्यवाद दोनों प्रकार की भावनाओं को देखकर यही कहा जा सकता है कि कवियों ने उसका स्वागत-गान लिखा, स्वतंत्रता को सिद्धांत-रूप से तो स्वीकार कर लिया, किंतु उसकी व्यावहारिक भयानकता से या तो वे पलायनवादी बन गए या लौकिक क्षेत्र में स्वतंत्रता के अतिरिक्त और दूसरी वस्तुओं को अधिक महत्त्वपूर्ण मानकर आध्यात्मिकता में तन्मय होकर आत्मदर्शन में निमग्न हो गए।

किन्तु समय की गति अत्यंत वेगपूर्ण थी और देश को नवीन दिशा की ओर प्रेरित करनेवाली शक्तियों को इन कवियों के समाधि-भंग तक ठहरने का अवकाश न था। द्वितीय महायुद्ध की निर्ममता ने इनकी निद्रा भंग कर दी। समाज नवीन प्रणाली पर विचार करने को विवश हुआ। युद्ध के परिणाम-स्वरूप देश में अत्यंत व्यापक परिवर्तन उपस्थित हुए और घटनाएँ बड़े वेग से चलने लगीं। युद्ध के प्रभाव से सबसे पहले आर्थिक व्यवस्था में उथल-पुथल लक्षित हुआ। जीवन-यापन की समस्या दिन-प्रतिदिन कठिन होती गई। इसके साथ पूँजीपतियों को दिन दूना रात चौगुना लाभ होता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो दरिद्रता की वृद्धि हुई और दूसरी ओर कतिपय व्यक्तियों के हाथ में धन संचित होता गया। इससे वर्ग-भावना ने जोर पकड़ा और शोषक तथा शोषित का भाव अत्यंत उग्रता से सामने

आया। इस युद्ध ने वर्ग-संघर्ष को उसके नग्न स्वरूप में सामने प्रकट कर दिया।

इस युद्ध ने राजनीतिज्ञों के वाग्जाल को हटाकर उनके असली रूप को भी प्रकट कर दिया। उससे यह भी स्पष्ट हो गया कि इनके उच्चादर्श और सिद्धांत-प्रेम की शपथें खोखली हैं और वे जनता को इनमें बहलाकर स्वार्थ साधन करना चाहते हैं। द्वितीय महायुद्ध के बीच मित्र वर्ग ने प्रत्येक देश के लिए आत्मनिर्णय का अधिकार माना और अतलांतक घोषणा (अटलांटिक चार्टर) द्वारा स्वतंत्रता के सिद्धांत को मान्य ठहराया, लेकिन उसके साथ यह भी कह दिया गया कि यह भारत (या दूसरे शब्दों में समग्र पूर्व) के लिए नहीं है। देश के नेताओं के बार-बार कहने पर भी यहाँ की सरकार ने युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा न की, प्रत्युत सन् '४२ से जो दमन-चक्र चलाया उसने योरोपीय युद्ध की बर्बरता की पुनरावृत्ति उपस्थित कर दी। युद्ध आरंभ भी हुआ और अन्त भी हो गया, किंतु भारत और पूर्व का स्वाधीनता-युद्ध अभी चल रहा है। यदि यह कहा जाय कि पूर्व के स्वातंत्र्य-युद्ध में अब योरोपीय राजनीतिज्ञ अपने स्वार्थमय खुले रूप में प्रकट हो रहे हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी। फलतः देश में व्यापक असंतोष है और राजनीतिज्ञों की चालों से लोगों को निराशा हो रही है और विचारशील शांति और उन्नति के लिए नया मार्ग खोजने को विवश हो रहे हैं। इस प्रकार इस युद्ध ने जहाँ आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में अव्यवस्था और असंतोष को जन्म दिया वहाँ परंपरागत विचारों को छोड़कर नवीन मार्ग खोजने का उत्साह भी भरा। प्रत्येक देश का नवयुवक नवीन व्यवस्था की प्रतिष्ठा चाहता है।

किंतु इस नवीन व्यवस्था में व्यक्ति को गौणता और समाज को प्रधानता दी गई। कारण स्पष्ट है। इस युद्ध के वैज्ञानिक आविष्कारों ने देश और काल की दूरी का अतिक्रमण कर मनुष्यों को एक दूसरे के इतना निकट ला दिया कि एक देश या समाज का दूसरे देश या समाज पर प्रभाव अनिवार्य हो गया। अब विश्व के एक कोने में उठता हुआ विचारों का आंदोलन वहीं परिमित न रहकर सारे संसार को आक्रांत कर लेता है। एक

देश के युद्ध की आँच दूसरे देशों को भी झुलसा देती है। अब यह स्पष्ट हो गया कि युद्ध और शांति एक देश की समस्या न रहकर विश्व-प्रश्न बन गए हैं। देश और व्यक्ति की सीमा से ऊपर उठकर अब इनपर सामाजिक रूप से विचार करना अनिवार्य हो गया है।

ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति की संकीर्ण भावनाएं कैसे सम्मुख रह सकती थीं। युद्ध, विज्ञान और सामाजिक नव निर्माण की विशाल शक्तियों के आगे एक व्यक्ति की सुख-दुःख की भावना स्वयं फीकी पड़ जाती है। उससे आर्थिक परवशता के चंगुल में जकड़े हुए समाज के बीच व्यक्तिगत भाव-द्वंद्व का विशेष प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता। केवल उनकी हल्की गूंज मात्र सुनाई पड़ती है। इसी प्रकार व्यक्ति के निजी संघर्ष के आधार पर बनी हुई रचना सामाजिक संघर्ष और तज्जनित शक्तियों के आगे क्षेत्र बन जाती है। व्यक्तिगत भावों का प्रकाशन सौंदर्यपूर्ण होने पर भी नवीन व्यवस्था की प्रतिष्ठा के प्रयास और मानवता की नव आशा और आवश्यकता की विशालता के आगे धूमिल प्रतीत होने लगता है। जब कि एक अणु का विस्फोट क्षण भर में एक प्रदेश को विनष्ट कर सकता है और सुदूर कोने का युद्ध सारे विश्व को प्रभावित कर सकता है तो लोग वैयक्तिक सीमा से ऊपर उठकर सामाजिक और सामूहिक दृष्टि से विचार करने को बाध्य हो जाते हैं। प्रत्येक देश का नवयुवक इसी प्रणाली पर इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार कर रहा है।

इस प्रकार इस द्वितीय युद्ध ने सभी क्षेत्रों में—राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक—विश्वव्यापी परिवर्तन उपस्थित कर दिया। फलतः आज हमारी आवश्यकताएं दूसरी हैं और हमारा दृष्टिकोण भी दूसरा। हम आज यह मानने लगे हैं कि हमारी सर्वप्रथम सामाजिक आवश्यकता व्यक्तिगत व्यावसायिक साहस और उत्साह की इतनी अधिक नहीं है और न इतनी व्यक्तिगत विचारों की अभिव्यक्ति की है जितनी सार्वजनिक हित और सामूहिक नियंत्रण की है। हम जानते हैं कि अधिकांश मनुष्यों की इच्छाएँ और आवश्यकताएँ समान हैं। न्याय और अन्याय की भावना भी एक ही है और कार्य-क्षेत्र में प्रेरणा भी समान भावों से मिलती है। नव निर्माण के

मूल में वही सामान्य जनसमाज और इसकी सामान्य भावनाएँ हैं। हम यह भी जानते हैं कि व्यक्ति की (व्यावहारिक तथा विचारों के क्षेत्र में) स्वतंत्रता को घोषित करनेवाला सिद्धांत इस आर्थिक व्यवस्था का समर्थन कर रहा है जो केवल सर्वश्रेष्ठ की उत्तरजीविता (Survival of the fittest) के अधिकार में विश्वास करता है। नव निर्माण पूँजीवाद का नाश चाहता है। इसी से व्यक्तिगत लाभ या मुनाफे का सिद्धांत उसे मान्य नहीं है, क्योंकि इसका उस समाज से कोई समझौता नहीं हो सकता जिसका आदर्श सामाजिक समता है और जो प्रत्येक व्यक्ति को समान अवसर देना चाहता है और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति भी उसका ध्येय है। इससे वह वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा दे रहा है।

इस दृष्टिकोण के फल-स्वरूप दरिद्रता मानवता के इतिहास में शायद पहली बार अनावश्यक प्रतीत हुई। दरिद्रता का निवारण संभव मानने के कारण उसका अस्तित्व ही अन्यायपूर्ण ठहराया गया। दरिद्रता कल्पना के लिए करुण घटना मात्र न रह गई, जिसके सहारे कवि अपने हृदय की उदारता का प्रदर्शन करे, प्रत्युत वह ठोस वास्तविकता और यथार्थता बन गई जिसकी अवहेलना असंभव थी और संसार में धन की अतुलित वृद्धि होने के कारण (और विज्ञान के प्रसाद से वस्तुओं के आधिक्य के कारण) वह वर्तमान सभ्यता के सबसे बड़े अत्याचार और अन्याय की कोटि में रख दी गई। नवीन व्यवस्था इस अन्याय और अत्याचार का उन्मूलन करने के लिए इसको पोषित करनेवाले समाज में आमूल परिवर्तन करना चाहती है।

फलतः सामाजिक नव निर्माण की इच्छा और भावना आज की सबसे बड़ी विशेषता बन गई है। विचारक और कवि दोनों इससे अनुप्राणित हैं। धर्म की भावना को अपदस्थ कर इसने सबसे प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिया है और यह लोगों को उत्साह और प्रेरणा दे रही है। पहले जो शक्ति धर्म और नैतिकता से मिलती थी वही संबल और संयम आज सामाजिक नव निर्माण की भावना से मिल रहा है। यह निर्विवाद है कि धर्म और नैतिकता के सामूहिक प्रभाव का ह्रास हो रहा है (यद्यपि व्यक्तिगत रूप में अब भी प्रभावित करता है) और वह मनुष्यों की इच्छा और कार्य को संचालित

करने में उतनी समर्थ नहीं है। सामाजिक भावना अब इसका स्थानापन्न बनकर व्यावहारिक क्षेत्र में हमको प्रेरणा प्रदान कर रही है।

नव निर्माण की यह भावना हमारे सामाजिक आधार और ढाँचे की पूरी जाँच-पड़ताल कर रही है और पुनरुत्थान के लिए क्रांतिकारी मार्ग और उपाय बता रही है। इसका क्रांति का संदेश केवल औद्योगिक या आर्थिक व्यवस्था तक परिमित नहीं है, प्रत्युत धर्म, नीति, काव्य, कला सभी में व्यापक और गंभीर परिवर्तन का संकेत दे रहा है। इसके मूल में शोषक और शोषित की आर्थिक तथा भौतिक वर्ग-भावना है। इसका आदर्श वर्ग तथा वर्ण से हीन समाज की प्रतिष्ठा है। राजनीति, समाज, धर्म, काव्य, कला सभी में इस वर्ग-संघर्ष का ही परिवर्तित विविधात्मक रूप देख रहा है और इस संघर्ष में शोषितवर्ग की विजय चाहता है। इसके साथ-साथ सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह किसी प्रकार के सामंजस्य या समझौते के लिए तैयार नहीं है। यह समाजवाद और साम्यवाद की नव व्यवस्था की जीवन और राष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र में पूर्ण प्रतिष्ठा चाहता है। इसी से इस भावना से ओत-प्रोत कवि या लेखक के सामने सामान्य जन-जीवन के वर्णन का उतना महत्त्व नहीं है जितना जनता की मनोदृष्टि के अनुकूल प्रदर्शन का है। वस्तु-विषय का उतना प्रश्न नहीं है जितना वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत के स्वीकार का है। अत्याचार, अन्याय और बंधनों के विरुद्ध लड़ती हुई जनता का खुले रूप में साथ देने की माँग कवियों और लेखकों से की जा रही है।

नव युग की परिवर्तित परिस्थिति और नवीन आदर्शों की यह अत्यंत संक्षिप्त रूपरेखा है। युग की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को जानने-वाले एक नवीन समुदाय का साहित्य के बीच आविर्भाव हुआ जिसने अपने को प्रगतिवादी कहा और जिसकी रचना प्रगतिशील कही गई। प्रगतिशील साहित्य की बौद्धिक पृष्ठभूमि यही है और यही सिद्धांत उसके मूल में हैं और यही उसको छायावादी काव्य से पृथक् भी करते हैं। दो युगों की परिवर्तित परिस्थिति और जनभावना को ध्यान में रखने से छायावाद का व्यक्तिवाद और अंतर्मुखी प्रवृत्ति और प्रगतिवाद का आर्थिक आग्रह, वर्ग-संघर्ष और

सामूहिक नियंत्रण का उद्देश्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है और दोनों का विरोध और वैभिन्न्य इतना विषम नहीं प्रतीत होता।

प्रगतिवाद के मूल सिद्धांतों और उसके वातावरण के विषय में इतना लिखने के बाद इतना और लिख देना चाहिए कि छायावाद के समान प्रगतिवाद की भी कोई स्थिर व्याख्या हिंदी-साहित्य में नहीं हो सकी। जिस तरह छायावाद के आरंभ में नवीनता रखनेवाली प्रत्येक रचना छायावादी काव्य कही जाती थी उसी प्रकार किसी भी प्रकार की असामान्यता का नाम प्रगतिवाद पड़ गया। यदि किसी ने उन्मुक्त प्रेम के वर्णन में शील और संयम का ध्यान न रखा तो वह रचना प्रगतिवादी कही गई, क्योंकि प्रगतिवाद बंधनों को तोड़ना चाहता है। यदि किसी ने नाश और महानाश की होली मनानी चाही तो वह रचना भी प्रगतिवाद की कोटि में यह कहकर रख दी गई कि प्रगतिवाद वर्तमान व्यवस्था का अंत चाहता है। यदि किसी ने अपनी कविता में 'मजदूर' या 'किसान' या 'शोषक' और 'शोषित' का प्रयोग कर दिया तो वह रचना पक्की प्रगतिवादी बन गई। इस प्रकार प्रचलित सामान्य भावना और आदर्शों से अलग जो बात नवीनता और मौलिकता के नाम पर लिखी गई वह सब प्रगतिवादी समझी और कही जाने लगी। इसी से घोर शृंगारी और उच्छृंखल रचनाएँ प्रगतिवाद बन गईं। इसी से कुछ लोगों को प्रगतिवाद में कुछ सार या तत्त्व न मिला। इसी उच्छृंखलता और अव्यवस्था के कारण कुछ लोगों को प्रगतिवाद और प्रगतिशील साहित्य में केवल 'वाद' मिला और शील के दर्शन न हुए। उन्होंने इसे 'आग' और 'आँधी' की संज्ञा दी, क्योंकि उसमें नाश का गान तो मिलता था, किंतु नव निर्माण के बीज दिखाई न पड़ते थे।

इस अव्यवस्था का प्रधान कारण प्रगतिवाद की आरंभिक अवस्था है। इसी से बहुत से कवि और पाठकों के मस्तिष्क में इसकी सुस्पष्ट भावना स्थिर न हो सकी और इसी से बहुत कुछ ऐसा लिखा और कहा गया जिसका प्रगतिवाद से कोई संबंध न था, किंतु समय की गति के साथ-साथ इसकी

रूपरेखा स्पष्ट होती जा रही है (और हिंदी-साहित्य में ऐसे उदार और विवेकशील कवि और लेखक सामने आ रहे हैं जिनसे लोगों को बड़ी आशाएँ हैं)। इस क्षेत्र में सबसे अधिक स्पष्टता 'पंत', 'निराला', 'सुमन' जैसे कवियों में मिलती है। इनमें भी 'पंत' की भावना सबसे अधिक सुलझी हुई और स्वतंत्र है। 'पंत' के व्यक्तित्व में हमें हिंदी-काव्य के दो युगों का पथ-प्रदर्शन मिलता है। वे छायावाद के उन्नायकों में भी हैं और प्रगतिवाद का संचालन भी उनके द्वारा हुआ है। उनकी रचनाओं के अध्ययन से उनके व्यक्तित्व के विकास का परिचय तो मिलता ही है, उसके साथ-साथ युग-परिवर्तन का आभास भी मिल जाता है। किस प्रकार छायावाद का पर्यवसान प्रगतिवाद में हुआ—इसकी पूरी-पूरी कथा पंत की रचनाओं में मिलती है। 'पल्लव' से युगवाणी की प्रगति में छायावाद की प्रगतिवाद में परिणति की सूचना मिलती है।

'पल्लव' में पंत का छायावादी रूप निखरा हुआ है। 'पल्लव' में कवि का व्यक्तित्व अत्यंत उत्कर्ष पर है। कल्पना का स्वच्छंद रूप यत्र-तत्र बिखरा हुआ है और रहस्यवाद के अत्यंत मधुर और रुचिर संकेत भरे पड़े हैं। प्रकृति के बीच कवि सौंदर्य की खोज में व्यस्त है। 'गुंजन' में भी सौंदर्य की भावना अक्षुण्ण है, किंतु कवि का आग्रह प्रकृति से हटकर मनुष्य पर अधिक है। कवि 'मानव' को सृष्टि की सुंदरतम मूर्ति मानने लगता है। इतना ही नहीं, प्रकृति को भी सौंदर्य और श्रृंगार की भावना मनुष्य से प्राप्त हुई। मनुष्य से ही कलियों ने मुसकाना सीखा है, फिर भी मनुष्य सुखी नहीं है। उसने देश, जाति और वर्ग की दीवाल उठाकर अपने को विभाजित कर दिया है। दुःख, दरिद्रता और द्वेष से वह पीड़ित है। कवि इसके उद्धार के लिए वर्तमान व्यवस्था का नाश और नव समाज और संस्कृति का निर्माण चाहता है। कवि को नवीन संस्कृति के उदय का विश्वास भी है। 'युगांत' में पुरातन युग के अंत की सूचना मिलती है। कवि कह उठता है कि 'द्रुत झरो जगत के जीर्णपत्र' और 'जीर्ण शीर्ण हो नष्ट पुरातन।'

नवीन व्यवस्था की स्पष्ट सूचना 'युगवाणी' में मिलती है। कवि साम्य-

वाद का आवाहन कर रहा है। सामूहिक नियंत्रण पर विशेष आग्रह है। इसके साथ-साथ कवि गांधीवाद और अहिंसा भी चाहता है। व्यक्ति के विकास के लिए सत्य और अहिंसा आवश्यक है और समाज के लिए साम्यवाद। कवि इन दोनों का सामंजस्य चाहता है। वह राजनीतिक दासता, सामाजिक अंधविश्वास और आर्थिक शोषण के विरुद्ध अपनी आवाज उठाता है। कला के मानदंड की भावना भी बदल जाती है। उसके मूल्यांकन की माप जनहित बन जाती है। 'पल्लव' का स्वच्छंदतावादी और सौंदर्यवादी कवि 'युगवाणी' में उपयोगितावादी बन जाता है। इस प्रकार 'पंत' की रचनाएँ छायावाद तथा प्रगतिवाद का प्रतीक बन जाती हैं।

'पंत' के अतिरिक्त हिंदी के कतिपय अन्य प्रमुख कवियों ने भी प्रगतिवाद के दृष्टिकोण को अपनाया। कुछ ने सामाजिक रूढ़ि, परंपरा और अंध-विश्वास के विरुद्ध लिखा। अधिकांश ने साम्राज्यवादिता के विरुद्ध लिखकर श्रमिकवर्ग को जगाने और एक सूत्र में बाँधने का प्रयास किया। धन के असंतुलित वितरण और आर्थिक शोषण की ओर भी इन कवियों की दृष्टि थी। समता का सिद्धांत इनको मान्य है, फिर भी राष्ट्रीयतावादी कवियों से इनका दृष्टिभेद है। ये समस्त मानवता के कल्याण के लिए वर्गहीन समाज की भावना करते हैं। ये किसी एक देश की स्वतंत्रता के लिए न लड़कर सभी देशों के शोषित वर्ग से संबंध स्थापित कर सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं। प्रत्येक क्षेत्र के शोषण, अत्याचार और अंधविश्वास का उन्मूलन इनका उद्देश्य है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि ये कवि भारतीय स्वतंत्रता के प्रति उदासीन हैं या हमारे राजनीतिक आंदोलनों से इनका सहयोग नहीं है। देश की दशा और घटनाएँ भी इनको प्रभावित करती हैं और ये देश की सीमा से उठकर सारी मानवता के अभ्युत्थान की भी कल्पना करते हैं।

प्रगतिवाद के आदर्श और आकांक्षाओं के इस संक्षिप्त विवरण के साथ-साथ उसके अभावों की ओर संकेत करना अप्रासंगिक न होगा। अधिकांश रचनाओं में बौद्धिकता अधिक है और रागात्मकता कम। अधिकांश रचनाओं में केवल प्रगतिवाद को सैद्धांतिक पारिभाषिक शब्दावली मात्र मिलती है।

विचारों को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए काव्य के उपकरणों का जो प्रयोग होता है उसकी यहाँ पर न्यूनता है। इसी से इन रचनाओं में सौंदर्य और मधुरता कम है, किंतु ओज का आधिक्य है। अधिकांश कवियों को वक्तृता देनेवालों की श्रेणी में रखा जा सकता है। ये कवि भी राजनीतिक व्याख्यानदाताओं के समान हैं। फलतः काव्य इनके हाथ में पड़कर प्रचार का साधन बन गया। उसका उद्देश्य योजना-विशेष से सीमित हो गया और उसका प्रयोग तात्कालिक प्रभाव को दृष्टि में रखकर होने लगा। प्रगतिवाद का आर्थिक आग्रह अधिकांश कवियों को ऐसा बंदी बना लेता है कि वे उस घेरे के बाहर कुछ नहीं देख पाते। उनमें भाव-पक्ष की कमी है और अभाव-पक्ष की अधिकता। नाश का विवरण तो मिलता है, किंतु निर्माण की भावना का सुव्यवस्थित दर्शन कम है। इसी प्रकार इसमें एकांगिता अधिक है। जीवन की विविधता और अनेकरूपता के दर्शन कम होते हैं।

प्रगतिवाद का महत्त्व न्यूनताओं और अभावों से कम नहीं होता और न इन सबका उत्तरदायित्व ही प्रगतिवादी कवि के ऊपर है। प्रगतिवाद के बहुत से अभावों का मूल उस परिस्थिति में है जिसने कि उनको जन्म दिया है। जिस प्रकार कि इस वाद को क्रांतिकारी भावनाओं का स्रोत मध्यम वर्ग की बढ़ी हुई चेतनता में है उसी प्रकार उसके प्रसार और प्रभाव की संकीर्णता का कारण भी उसकी परवशता में है। बात यह है कि मध्यम वर्ग और जन-सामान्य के बीच जो खाई है वह अभी तक पट नहीं सकी है। मध्यम वर्ग उससे अवगत है और यह भी जानता है कि उसका और जनसामान्य का ऐक्य अत्यंत कठिन है। इसी से प्रगतिवाद की रचनाएँ मध्यम वर्ग से ही प्रशंसित होकर (क्योंकि उनमें प्रचलित परिपाटी का विरोध रहता है) उन्हीं के बीच सीमित रह जाती हैं। ये रचनाएँ दलित, पीड़ित और शोषितों के पास नहीं पहुँचतीं जिनका उद्बोधन और आह्वान किया जाता है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि सामान्य जनता अभी अशिक्षित है। लोगों को संदेह है कि कवियों की वाणी को जनता समझ पाती है या नहीं।

प्रगतिवाद की संकीर्णता और सीमा का दूसरा कारण यह है कि इस

वाद में आनेवाले बहुत से कवियों की भावना में स्पष्टता नहीं है। सामाजिक चेतना की वृद्धि के साथ-साथ ज्ञानपक्ष का विकास भी अत्यन्त आवश्यक है। अधिकांश कवियों को रचनाओं में सुव्यवस्थित सामाजिक योजना और संचालन के दर्शन नहीं होते। इस समय की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि क्रांतिवादी (या प्रगतिवादी) कवि भारतीय समाज के संगठन को समझें और साथ-साथ उन ऐतिहासिक शक्तियों के संघर्ष और प्रभाव को भी जान लें जिनके बीच हमारा समाज बनता, बिगड़ता, परिवर्तित और विकसित होता रहा है। समाज के सभी पक्ष, उपकरण, उपादान और वर्तमान शक्तियों के संघर्ष को बिना समझे और बिना उनके सम्यक् संचालन के प्रगति संभव नहीं है। क्रांति की इच्छा (या गीत) एक चीज है और क्रांति दूसरी। अधिकांश कवियों ने प्रगति या क्रांति को आवश्यक समझकर सिद्धांत रूप में स्वीकार किया है। यह अभी उनका अभिन्न अंग बनकर उनके जीवन को नहीं रँग सकी है।

जिन कवियों का विश्वास प्रगतिवाद से अनुप्राणित है उनके सामने भी समस्या है। प्रगतिवाद के सिद्धांत अभी व्यापक और मान्य नहीं हो सके हैं। जनता अभी परंपरा और प्रचलित विचारों के सहारे चल रही है। इस प्रकार कवि और जनता के बीच कोई सामान्यता नहीं है। इसी से स्थिति की विषमता यह है कि जीवन-यापन के वैभिन्न्य और असामान्य वातावरण के कारण यदि कवि अपने व्यक्तिगत विश्वासों के अनुरूप चलता है तो परंपरा में पली जनता से दूर होता है और यदि परंपरा का साथ देता है तो अपने विचारों की बलि चढ़ानी पड़ती है। इसी प्रकार संघर्ष का समय होने के कारण या तो कवि क्रांति की अवहेलना कर कलात्मकता की रक्षा करे या अपने को क्रांति का सहचर बनाकर कलात्मकता की हानि उठाए। यह तो सभी जानते हैं कि प्रत्येक संघर्ष और परिवर्तन के युग में कला को कुछ न कुछ क्षति उठानी पड़ती है। नवीन भावनाओं को कलात्मक रूप प्राप्त करने में कुछ समय लगता है।

फिर भी प्रगतिवाद का महत्त्व है, क्योंकि उसका उद्देश्य जीवन के

भौतिक पक्ष का अभ्युत्थान है। जीवन के आर्थिक और सामाजिक पक्ष पर विशेष आग्रह दिखाकर यह समस्त मानवता के व्यावहारिक पक्ष का उत्तरोत्तर विकास करना चाहता है। प्रगतिवाद का इसलिए भी महत्त्व है कि उसमें वर्तमान विकास के प्रधान तत्त्व छिपे हैं। हम जानते हैं कि नए सामाजिक विचार और सिद्धांतों का आविर्भाव इसी कारण होता है कि वे समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं और उनके संगठन और परिवर्तन-शक्ति के बिना समाज के भौतिक जीवन का विकास असंभव है। इसी प्रकार प्रगतिवाद की सत्ता ही उनके महत्त्व का प्रमाण है।

प्रगतिवाद आज नहीं तो कल लोकप्रिय हो जायगा। इसी प्रकार थोड़े ही समय में उसकी सैद्धांतिकता भी व्यावहारिकता में परिणत हो जायगी। जनता के हृदय में जड़ जमाते ही इसकी सैद्धांतिकता अतुलनीय शक्ति बन जायगी, किंतु यह जनता के गले का हार तभी बनेगा जब कि यह वस्तुओं की मूल यथार्थता से समन्वित होगा। इसलिए लेखक और कवि के लिए आवश्यक है कि वह परिस्थिति की मूल वास्तविकता या उसकी तह तक जाय! इस प्रकार प्रगतिवाद का प्रभावपूर्ण होना प्रगतिवादी लेखकों पर बहुत कुछ आश्रित है। इसका स्थायित्व फैशन और फरमाइश के आश्रित न होकर प्रगतिवादी कवियों की सत्यानुभूति, शक्तिशाली भाषा और प्रभावपूर्ण कल्पना पर आधृत है। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्रगतिवाद के नाम पर आजकल जो कुछ लिखा जा रहा है उसका अधिकांश निरर्थक और अस्पष्ट है और वह शीघ्र ही लुप्त हो जायगा। जो रचनाएँ बचेंगी वे अपनी सचाई और उत्कृष्ट भावनाओं के बल पर बचेंगी।

फिर भी प्रगतिवाद का स्वागत होना चाहिए क्योंकि यह साहित्य में नई चीज है और अभी इसका ठीक-ठीक अध्ययन और मूल्यांकन नहीं हो सका है। इसका इसलिए भी स्वागत होना चाहिए कि इसमें युगांतकारी क्रांतिमय शक्ति है। इसकी क्रांति के विषय में रूस के महान् कवि अलेक-जेंडर ब्लाक के कहे हुए शब्द बहुत कुछ प्रगतिवाद के विषय में भी चरितार्थ हो सकते हैं—"क्रांति आँधी और बर्फीले तूफान के समान नूतन और

अप्रत्याशित को सदा लाती है। यह बहुतों को बड़ी निर्दयता से ठगती है। भँवर के बीच बहुत से योग्य व्यक्तियों को अशक्त बना देती है और प्रायः अयोग्य को सूखे और सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देती है, किंतु ये उसकी आश्चर्यकारिणी विशेषताएँ अजूबियात (Peculiarities) हैं। इनसे न तो धारा का दिशा-परिवर्तन ही होता है और न धारा-प्रसूत भयानक गर्जन ही बदलता है (कम होता है)। यह गर्जन हमेशा बड़ी बातों के बारे में है।"[1] इसी प्रकार अनर्गल, अस्पष्ट और अवांछनीय बातों के होने पर भी प्रगतिवाद का अध्ययन करना चाहिए। बहुत संभव है कि क्रांतिवाद की अशांति और आंदोलन से ऐसे कवि का जन्म हो जिसे समस्त मानवता अपना कवि कह सके, जिसकी वाणी में असंख्य हृदयों की भावना और असंख्य कंठों का स्वर हो।

---

१. The revolution, like a whirlwind, like a snowstorm always brings the new and unexpected. It cruelly cheats many. It cripples the worthy in its whirlpool. It often carries the unworthy to safety or dry land. But these are its peculiarities; these change neither the general direction of the torrent nor the threatening and deafening rumbling which the torrent produces. This rumbling is always about great things.

—THE SPIRIT OF MUSIC by Alexander Blok P. II
Russian Literature Library No. 5.

उपसंहार

पूर्व पृष्ठों के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि हिंदी-साहित्य का आधुनिक युग समय के साथ-साथ विकसित होता गया है। भारतेंदु के समय से लेकर आज तक का काव्य प्रगतिशील रहा है। हमारे कवि समय की आवश्यकता को समझते हुए और युगधर्म को पहचानते हुए काव्य में परिवर्तन और परिमार्जन करते रहे हैं। आधुनिक युग के कवि समय की गतिविधि को परखते हुए सदैव जागरूक रहे हैं। इस प्रकार आधुनिक काव्य युग की छाप लिए हुए हमारी परिस्थिति, परवशता और परिवर्तन की कथा कह रहा है। वह नवीन भावनाओं, मनोदृष्टि और प्रवृत्तियों से समन्वित है।

किंतु इस परिवर्तन में काव्य की पूरी कथा नहीं है। परिवर्तन के साथ-साथ आधुनिक काव्य में परंपरा-प्राप्त भावनाओं का उत्तरोत्तर विकास भी देखने को मिलता है। जहाँ एक ओर कवि क्रांतिकारी संदेश दे रहा है वहाँ काव्य के बीच सामंजस्य के दर्शन भी हो रहे हैं। जहाँ कवि उथल-पुथल चाहता है और नाश का आह्वान कर रहा है वहाँ सौंदर्य की प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है और जहाँ कवि आज की निराशा में डूबा सा जा रहा है वहाँ आध्यात्मिकता की किरणें भी दिखाई पड़ जाती हैं। इस प्रकार एक ओर क्रांति का कोलाहल, संघर्ष, नव-निर्माण और नव व्यवस्था की प्रतिष्ठा है तो दूसरी ओर 'साकेत' और 'कामायनी'। एक ओर परिवर्तन तो दूसरी ओर परंपरा। एक ओर क्रांति तो दूसरी ओर क्रमिक विकास का प्रयास।

ऐसी परिस्थिति ने कवियों के सामने चुनाव का विषम प्रश्न उपस्थित कर दिया है। कवियों के त्याग और ग्रहण का प्रश्न इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण बन जाता है, क्योंकि यह संघर्ष तथा संक्रांतिकाल है और कवि के संकल्प पर देश का भविष्य निर्भर है। संघर्ष का युग होने के कारण इतना तो स्पष्ट ही है कि सामयिक आवश्यकताएँ और समस्याएँ प्रमुख स्थान ग्रहण करेंगी और युगधर्म की व्यंजना करनेवाले कवि का आदर होगा। भारत

की वर्तमान स्थिति में तो ऐसा होना अत्यन्त आवश्यक है। आज के कवि के सामने गुलामी और गरीबी का सबसे विकट प्रश्न है जिसे सुलझाए बिना सौंदर्य और आध्यात्मिकता की बातें अत्यंत खोखली प्रतीत होती हैं। हमारी संस्कृति के उत्कर्ष और पूर्ण विकास के लिए इनका निराकरण अत्यंत आवश्यक है। अतएव उन कवियों का स्वागत हमारा परम कर्तव्य हो जाता है जो देश की वर्तमान परिस्थिति में सुधार करने के लिए कटिबद्ध होकर नवीन व्यवस्था की प्राण-प्रतिष्ठा में तन्मय हैं।

कवियों की नवीन व्यवस्था का स्वागत करते हुए चेतावनी के दो-चार शब्द अप्रासंगिक न होंगे। सबसे पहली बात तो यह है कि पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण वांछनीय नहीं है, क्योंकि पाश्चात्य संस्कृति का (आर्थिक शोषण के आधार पर टिका हुआ) भौतिक समृद्धि का यह स्वरूप अधिक दिनों तक नहीं बना रह सकता है। राजनीतिक और आर्थिक बर्बरता इस संस्कृति की विशेषता है। स्वयं पाश्चात्य देशों के विचारशील विद्वान् इसकी स्थिति के विषय में सशंक हो उठे हैं और वे किसी आध्यात्मिक या नैतिक विचार का आधार खोज रहे हैं। इसलिए पाश्चात्य संस्कृति की मानसिक दासता ठीक नहीं। इसी प्रकार सामंजस्य की भावना का सर्वथा तिरस्कार भी वर्तमान स्थिति में उपयोगी नहीं है और न अतीत को घृणा और अवहेलना की दृष्टि से देखने से कोई कार्य सिद्ध होता है। इसी प्रकार इसमें एक ओर तो देश और काल से सीमित परिस्थिति की प्रतिक्रिया मिलती है और दूसरी ओर सारे विश्व को अपनाने की क्षमता। भारतीय संस्कृति की यही सबसे बड़ी विशेषता रही है कि उसमें तानाशाही कभी न थी और न उसने कभी घृणा का पाठ पढ़ा या सीखा। सार्वभौमिकता का संदेश सुनाते हुए देश और काल की सीमा के बीच उसने अपने व्यक्तित्व को बनाए रखा।

हमारे कवियों को भारतीय संस्कृति की इस विशेषता का ध्यान रखना चाहिए। उनको चाहिए कि उत्कृष्ट जातीय भावनाओं और विशेषताओं को उत्कृष्टतम बनाते हुए संस्कृति के जातीय व्यक्तित्व की रक्षा करते हुए विश्व-विकास में योग दें। अपने जातीय व्यक्तित्व को मिटाकर वे कुछ भी नहीं

कर सकते। यह स्पष्ट है कि कोई एक संस्कृति सारे विश्व के ऊपर नहीं लादी जा सकती, क्योंकि प्रत्येक संस्कृति किसी समुदाय की जीवन-शक्ति की अभिव्यक्ति है और इन समुदायों में परस्पर भेद है। भविष्य की आशा सहयोग में है, समर्पण में नहीं। सामंजस्य और सहिष्णुता में है, अनुकरण में नहीं। इसलिए काव्य के बीच कवियों को अपनी जातीय और सांस्कृतिक भावनाओं का भी परिमार्जन करते रहना चाहिए, क्योंकि इसी माध्यम से वे विश्व को कुछ दे सकेंगे। जिस प्रकार व्यक्तित्वहीन मनुष्य का कोई मूल्य नहीं है उसी प्रकार व्यक्तित्वहीन देश और उसकी संस्कृति का भी कोई मूल्य नहीं। इसी प्रकार उस साहित्य का भी कोई महत्त्व नहीं है जिसमें जातीय व्यक्तित्व की झलक नहीं। इस संबंध में आयरिश पुनरुत्थान से संबंधित श्री जेम्स एच० कजिन्स के कतिपय शब्दों का उद्धरण अप्रासंगिक न होगा "जातीयता से विहीन कला केवल श्मशानघाट ले जाई जाने की प्रतीक्षा में है।......सार्वभौमिकता का मार्ग पृथ्वी और जीवन के ऊपरी सतह से नहीं है, प्रत्युत अपने गहरे जीवन के सीधे, किंतु संकीर्ण द्वार में से है......काव्य का प्रयोजन प्राचीन या नवीन से न होकर तत्काल से है और सच्ची सर्वात्मकता (Cosmopolitanism) की प्राप्ति जातीयता की अवहेलना में न होकर उसकी पूर्णता में है।"[1] सच्ची जातीयता के समावेश से ही साहित्य का पुनरुत्थान हो सकेगा और उसे संजीवनी शक्ति प्राप्त हो सकेगी।

इस प्रकार साहित्यिक पुनरुत्थान के लिए हमें जनता तक पहुँचना होगा।

---

१. An art without nationality awaits its transport to burning ghats......The way to the universal, is not along the surface of the earth of life but by the straight gate and narrow way of one's own deeper life....Poetry has nothing to do with ancient or modern, but only with now, and true cosmopolitanism will not be achieved through the ignoring of nationality but through its fulfilment.

—THE RENAISSANCE IN INDIA by James H. Cousins.
Page 179-180

जिस प्रकार राजनीतिक आंदोलन को शक्ति प्राप्त करने के लिए मध्यम वर्ग से हटकर जनसाधारण को साथ लेना पड़ा उसी प्रकार साहित्यिक संजीवन के लिए लेखकों को भी जनता का हृदय पहचानना होगा। साहित्य का सच्चा पुनरुत्थान तभी होगा, जब वर्तमान जन-जीवन के सच्चे आधार को समझकर लेखक जन-जीवन की अभिव्यंजना कर सकेंगे। इस जन-जीवन की अभिव्यक्ति में जनता की आध्यात्मिक, बौद्धिक और सामाजिक भावनाएँ और आवश्यकताएँ स्वभावतः निहित रहेंगी। कवि उनका आश्रय भी लेंगे और उनका उत्कर्ष भी दिखाएँगे। साथ ही, वे परंपरा के महत्त्व को समझते हुए और उसके कोष का उपयोग करते हुए उसपर अपने व्यक्तिगत अनुभव की छाप भी छोड़ेंगे। न आध्यात्मिकता या नैतिकता को (शोषकों द्वारा शोषितों के लिए तैयार किया हुआ) मादक द्रव्य कहकर टाल देने से संसार की परिस्थिति ही सुधारी जा सकती है। इसलिए आवश्यकता इस बात की है कि पाश्चात्य देश की कल्याणकारी भावनाओं को अपनाकर उनमें भारतीय परिस्थिति के अनुकूल संशोधन कर उनका उपयोग किया जाय।

पाश्चात्य संस्कृति की आलोचना का यह अर्थ कदापि नहीं है कि आध्यात्मिकता या भारतीयता के नाम पर समय-विरुद्ध रूढ़ियों का समर्थन किया जाय। जिस प्रकार पाश्चात्य संस्कृति के सम्बन्ध में विवेक से काम लेना चाहिए उसी प्रकार अपनी संस्कृति का स्वागत भी विवेकपूर्वक करना चाहिए। मानसिक दासता किसी भी क्षेत्र में वांछनीय नहीं है। इसलिए जहाँ पाश्चात्य संस्कृति के तत्त्वों का समावेश करना होगा वहाँ अपने में सुधार भी करना होगा। इससे स्पष्ट है कि हमारी नव व्यवस्था की भावना में ऐसे तत्त्व भी होंगे जिनकी सामयिक आवश्यकता है और वे चिरस्थायी गुण भी होंगे जिनसे भारतीय संस्कृति सदा अनुप्राणित रही है। यदि यह कहा जाय कि आज सामयिक पर स्थायी तत्त्वों से अधिक आग्रह रहेगा तो अनुपयुक्त न होगा। ऐसी स्थिति में आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में हमें पराधीनता और शोषण के विरुद्ध लड़ना होगा और इस क्षेत्र में समानाधिकार और समान अवसर की प्रतिष्ठा करते हुए किसी प्रकार का समझौता मान्य न होगा। इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में भी मनुष्य के मूल अधिकार और स्वत्वों के लिए बाधा-स्वरूप

रूढ़ियों का निर्ममता के साथ निराकरण करना होगा। भौतिक पक्ष की इस प्रतिष्ठा के साथ हम उस आध्यात्मिकता को भी नहीं छोड़ सकते जो देश और काल की सीमा से ऊपर उठकर हमारी संस्कृति को उदार बनाकर संजीवनी शक्ति देती रही है। इसलिए श्री अरविंद घोष के शब्दों में हमारी आवश्यकता यह है—"जो त्रुटि हो गई है उसका सुधार करो। हमारी आध्यात्मिकता का अधिक उदार और स्वच्छंद रीति से व्यवहार करो। यदि संभव हो तो पूर्वजों से कम नहीं, प्रत्युत अधिक आध्यात्मिक बनो। पाश्चात्य विज्ञान, तर्क, प्रगतिशीलता, नवीन प्रधान विचारों का समावेश अपने में करो, किंतु इनको अपने जीवन-दर्शन और आध्यात्मिक आदर्श तथा ध्येय के अनुकूल बनाकर और पचाकर।"[1] इसके साथ-साथ श्री अरविंद ने यह भी स्पष्ट कह दिया कि "यह समझना बड़ी भारी भूल है कि आध्यात्मिकता अभाव की भूमि पर (और) जीवन के अर्धमृत और बुद्धि के निरुत्साह और भयभीत होने पर फूलती-पनपती है। जब जाति संपन्न और समृद्धिपूर्ण जीवन बिताती और गंभीरतापूर्वक विचार करती है तभी आध्यात्मिकता खूब ऊँचाई और गहराई तक जाती है और शाश्वत तथा बहुमुखी परिपक्वता को प्राप्त होती है।"[2]

इसलिए आज हमारी आवश्यकता यह है कि हम अपनी संस्कृति के स्वरूप को समझें। थोड़ा ध्यान देने से मालूम हो जाता है कि हमारी संस्कृति

---

१. Correct what went wrong with us, apply our spirituality on broader and freer lines, be if possible not less but more spiritual than mere our fore-fathers; admit western science, reason, progressiveness, the essential modern ideas, but on the basis of our own way of life and assimilated to our spiritual aim and life.

—THE RENAISSANCE IN INDIA by Sri Aurobindo Ghosh, Page 82.

२. It is a great error to suppose that spirituality flourishes best in an impoverished soil with the life half killed and the intellect discouraged and intimidated. It is when the

एकांगी नहीं थी। इसने संपूर्ण जीवन का स्वागत कर उसकी अनेकरूपता और विविधता का प्रकाशन किया है। इसमें नियमों का स्वागत भी है और विचारों की स्वच्छंदता भी। स्वतंत्रता, सामंजस्य और सहिष्णुता इसकी सबसे बड़ी विशेषता रही है। इसी से इसमें कई तत्त्वों का समावेश है और विकास की विभिन्न अवस्थाएँ मिलती हैं। इसी से अन्य देशों के साहित्यिक पुनरुत्थान भी इसी दिशा की ओर संकेत कर रहे हैं। इसमें से आयरलैंड और रूस के साहित्यिक पुनरुत्थान विशेष महत्त्व के हैं। भारत के समान इन देशों की दशा भी अत्यंत दयनीय थी और दोनों देश राजनीतिक अत्याचार के विरुद्ध लड़कर मुक्त हो सके। भारत के समान इनकी जनता भी गरीबी और अंध-विश्वास के चंगुल में फँसी थी। दोनों देशों में राजनीतिक और साहित्यिक क्रांति साथ-साथ हुई और दोनों देशों के साहित्यकार जनता की ओर मुड़े और उन्होंने जन-भावना के आधार पर साहित्य की प्रतिष्ठा की। आयरिश पुनरुत्थान में यीट्स (W. B. Yeats) ने अपने देश की परंपरा और विशेषताएँ जानने के लिए अपने देश की जनकथाओं का संग्रह और अनुवाद किया जिससे कि उनके अन्य सहायक जातिगत स्वभाव और व्यक्तित्व को जानकर ऐसा साहित्य बना सकें जो केवल दो-चार के मनोरंजन की वस्तु न होकर जातीय साहित्य का आसन प्राप्त कर सके। इनके विषय में यीट्स ने स्वयं कहा है कि "हमारी कथाएँ सदा स्थानों से संबंधित रही हैं और केवल पहाड़ या घाटियाँ ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक विचित्र पत्थर और टुकड़े की अपनी कथा है जो लिखित या अलिखित परंपरा के रूप में सुरक्षित है। हमारा आयरिश पुनरुत्थान इसी परंपरा से उद्भूत है और इसे चाहिए कि—जब परंपराबद्ध जनता के बारे में नई कथाएँ बनाए तब भी—जनता और (उसके) स्थान से संबद्ध रहे। इसे आयरलैंड को—जैसा कि आयरलैंड और अन्य देश प्राचीन

---

race has lived most richly and thought most profoundly that spirituality finds its heights and its depths and its constant and many sided fruition.

—THE RENAISSANCE IN INDIA by Sri Aurobindo Ghose, Page 18.

समय में थे—जनता के लिए पवित्र देश बनाना चाहिए।"[1] यीट्स के अन्य सहयोगियों ने अपने-अपने क्षेत्र का कार्य पूरा करके इसे सर्वांगीणता प्रदान की। डा० डगलस हाइड और लेडी ग्रेजरी ने आयरलैंड की प्राचीन कथा और गीत की ओर ध्यान दिया। जार्ज रसेल ने केल्ट की स्वाभाविक रहस्य-भावना को थियोसफी से संबद्ध कर दिया। जार्ज एग्लिटन ने दार्शनिक व्याख्या के ढंग पर काम किया और जार्ज मूर ने इसमें केल्ट की स्वाभाविक यथार्थता का समावेश किया। इस प्रकार आयरिश पुनरुत्थान आयरलैंड की परंपरा, दर्शन, जातिगत स्वभाव और भावनाएँ सभी का संबल प्राप्त कर प्रभावपूर्ण बना। इसी प्रकार रूसी साहित्यिक पुनरुत्थान के मूल में जनता तक पहुँचने की प्रवृत्ति लक्षित होती है। टालस्टाय से लेकर गोर्की आदि महान् कलाकारों ने जनमन का चित्रण अपना उद्देश्य माना। उन्होंने जनता की आशा, निराशा, गरीबी, उत्साह, भीरुता आदि सभी पक्षों का चित्रण कर जनता के हृदय में साहित्य की जड़ें जमा दीं। जनता के हृदय का चित्रण कर एक ओर तो उसे लोकप्रिय बनाया और दूसरी ओर क्रांति की भावना भरकर जातीय पुनरुत्थान में योग दिया। द्वितीय महायुद्ध के बाद आजकल यूगोस्लाविया और चेकोस्लोवेकिया के साहित्य में जो नई लहर दौड़ रही है उसमें भी जनता के साथ घुल-मिलकर चलने की प्रवृत्ति लक्षित हो रही है।

---

१. "Our legends", says W. B. Yeats, "are always associated with places, and not merely every mountain and valley, but every strange Stone and little coppice has its legend, preserved in written or un-written tradition. Our Irish romantic movement has arisen out of this tradition, and should always, even when it makes new legends about traditional people and things, be haunted by people and places. It should make Ireland, as Ireland and all other lands were in ancient times, a holy land to her own people."

THE EIGHTEEN NINETEES by Holbrook Jackson, Page 137.

इसी प्रकार हमारे साहित्य का सच्चा पुनरुत्थान तभी माना जायगा जब कि साहित्य जनमन की व्यंजना में तत्पर होगा और जनता की भावना का जनता की भाषा में संचालन होगा। इनमें केवल आर्थिक या राजनीतिक भावनाएं न होंगी, प्रत्युत जन-भावना का संपूर्ण आधार संस्कृत होकर सामने आएगा। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि इसकी पूर्णता इसकी सर्वांगीणता में मानी जायगी जिसमें हमारा इतिहास, दर्शन, परंपरा, जातीय स्वभाव, सभी का सहयोग होगा। लेखकों को जनमन को समझ और पहचानकर जातीय व्यक्तित्व को क्षीण न बनाकर अधिक समृद्ध और संपन्न बनाना होगा। उन्हें ऐसा आदर्श उपस्थित करना होगा जिसपर जनता सब कुछ न्योछावर कर सके और साथ ही (जिसमें वह अपने संपूर्ण व्यक्तित्व के विकास का साधन पा सके। जिस प्रकार आज का युग जनता का युग है उसी प्रकार आज का साहित्य भी जनता का है। इसलिए लेखकों का यह कर्तव्य हो जाता है कि साहित्य की जड़ें जनता के हृदय में पैठ जायँ और जनता उसे अपनाए और वह (साहित्य) जनता की भावना, विचार और इच्छा-शक्ति को संगठित कर ऊपर उठाए और उनमें कलाकार को जगाकर उसका विकास करे। यह असंभव नहीं है। भारत के लंबे इतिहास में आज का संघर्ष पहली घटना नहीं है। हमारा साहित्य प्रत्येक संघर्ष के युग में युगधर्म समझकर समयोचित परिवर्तन कर अपने व्यक्तित्व की रक्षा कर सका है। भारतेंदु और द्विवेदी-युग का साहित्य भी इसी प्रयास और प्रयत्न की कथा कह रहा है। इसलिए पूरा विश्वास है कि आज का लेखक भी उदारता, सहिष्णुता, सामंजस्य और सद्-बुद्धि के द्वारा विवेकपूर्ण त्याग और ग्रहण के सहारे वर्तमान परिस्थिति पर विजयी भी होगा और अपनी जातीयता तथा संस्कृति के शाश्वत रूप की रक्षा भी कर सकेगा, उसके द्वारा साहित्य की हानि न होकर अधिकाधिक श्रीवृद्धि होगी और एकांगिता के स्थान पर अनेकरूपता और विविधता के दर्शन होंगे।

साहित्य के आरंभ से उसमें यथार्थवाद की धारा मिलती है। कुछ लोगों का कहना है कि जब शारीरिक और मानसिक श्रम पृथक् कर दिए गए तो धार्मिक, आध्यात्मिक और आदर्शवादी धारा का प्रवाह आरंभ हुआ।

उनका यह भी कहना है कि यह धारा तब तक बहती रहेगी जब तक श्रमभेद के साथ-साथ वर्गभेद न मिट जायगा। इस प्रकार वर्गभेद के न मिटने तक साहित्य और कला का इतिहास इन्हीं दो प्रवृत्तियों के मेल, विरोध और पारस्परिक प्रभाव का इतिहास है। फिर भी वर्गभेद चाहे मिट भी जाय, किंतु साहित्य की विविधता बनी रहेगी क्योंकि साहित्य या कला विज्ञान के समान किसी एक सिद्धांत की घोषणा नहीं करती, प्रत्युत उसकी प्रतिक्रिया अनेक कलात्मक एवं प्रभावपूर्ण रूपों में प्रकट होती है। प्रत्येक कवि और कलाकार भावों और सामग्री को लेकर उनपर अपने व्यक्तित्व की छाप लगाकर जनता के बीच आदान-प्रदान करता रहता है। यही उसकी देन है। कलाकार के व्यक्तित्व की अनेकरूपता में ही साहित्य की अनेकरूपता का रहस्य है। साहित्य और कला का साफल्य, रसास्वादन और महत्त्व इसी विविधता में है। इसी लिए साहित्य के बीच एक ही रागिनी के आलाप की आशा या इच्छा करना उसको संकीर्ण और संकुचित बनाना है।

इस अनेकरूपता और विविधता से अधिक महत्त्वपूर्ण है लेखक के व्यक्तित्व की रक्षा। इसके बिना साहित्य अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकता। साहित्य की सफलता की सबसे बड़ी कसौटी उसकी प्रभावात्मकता है। यह प्रभावात्मकता जनमत, कलापक्ष (अर्थात् भाषा तथा भावाभिव्यंजन के उपादान) और कवि के व्यक्तित्व की क्षमता और शक्ति पर निर्भर है। लेखक को इन तीनों का ध्यान रखना चाहिए, फिर भी अंत में उसे अपने विश्वासों और विचारों के प्रति सच्चा होना चाहिए। अनुभूति की सचाई को छोड़ देने से न तो उसका व्यक्तित्व ही शक्तिशाली हो सकेगा और न उसकी कृति ही प्रभावपूर्ण बन सकेगी। फैशन और फरमाइश के फल-स्वरूप लिखी गई रचना अधिक दिनों तक न टिक सकेगी। इसके विपरीत यदि लेखक अपने विश्वासों की कलापूर्ण अभिव्यंजना कर सका तो साहित्य के क्षेत्र में उसका किसी न किसी समय स्वागत अवश्य होगा। सत्य की शक्ति से समन्वित रहने के कारण उसकी सौंदर्य की कृतियाँ कभी न कभी लोगों को अवश्य प्रभावित करेंगी।

इस प्रकार कवि का उत्तरदायित्व अपने प्रति भी है और समाज के प्रति

भी है। उसे अपने प्रति भी सच्चा बना रहना है (क्योंकि इसके बिना कुछ भी सम्भव नहीं) और जनता का भाव-संचालन भी करना है। अपढ़ जनता के बीच कवि के पढ़े-लिखे और संवेदनशील होने के कारण (जनता के प्रति) उसका उत्तरदायित्व और भी बढ़ जाता है। उसे जनता के उत्थान में सहयोग देना होगा। इसी प्रकार कवि का उत्तरदायित्व संसार के प्रति भी है। युद्ध की विभीषिका से आक्रांत और मर्माहत जगत् को भारत का आध्यात्मिक संदेश ही सांत्वना प्रदान कर सच्ची राह दिखा सकता है। क्या यह संभव हो सकेगा कि (सामयिक और शाश्वत के बीच सुंदर सामंजस्य उपस्थित कर) हिंदी का कवि इसका उपयुक्त संदेशवाहक बन सके!

अनुक्रमणी